# भूखा अंकुर

न्द्र ओती



चो.कु.ल.

भूखा अंकुर

म हे श च न्द्र सो ती



# भूखा अंकुर

तथा अन्य कहानियाँ

प्रदीप प्रकाशन

प्रतिभा की बात मैं नहीं कहता,

लेकिन श्रम में मेरा विश्वास है ;

साहित्य-उपवन की भूमि में मैंने जो श्रम किया—

उसके प्रसाद स्वरूप एक नन्हा अंकुर उभरा ;

इस अंकुर को जिनके स्नेह-जल ने सदा सींचा

और जिनसे प्रेरणा पाकर

यह अंकुर आज फूलों को जन्म देने वाला पौधा बना,

मेरे कथा-पुष्पों का यह प्रथम गुच्छ,

उन्हीं—

'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सम्पादक

**श्री बाँके बिहारी भटनागर**

को सस्नेह !

**महेशचन्द्र सोती की**
**आगामी कृतियाँ**

१. धूल जीत गई !
(भाव कथाएँ)

२. मिस्टर सिलबिल
(हास्य कथाएँ)

# भूमिका

श्री महेशचन्द्र सोती की यह पहली संग्रह-पुस्तक है। पर कहानियों को पढ़ते हुए अनुभव हुआ जैसे बड़ी रुचिकर यात्रा हो! दृश्य विविध हैं, अप्रत्याशित और अकृत्रिम। प्लाट को व्यर्थ पेचीदा और घुमावदार बनाने की कोशिश नहीं है। घटनाओं का उद्घाटन अनायास प्रतीत होता है और विश्वास पर ज्यादा जोर नहीं पड़ता। कुछ तो इकहरे चित्र हैं और बड़े मनभावने। जैसे 'विश्वास-अविश्वास' और 'अच्छा तो यह बात थी!' दो कथा माताओं पर हैं और दोनों बड़ी मार्मिक हैं। स्त्री, जो माता नहीं बन पाती और गुड़िया को ही पास रखती है—कहानी में इस तरह व्यक्त होती है कि मन छू जाता है। अधिकांश कहानियों में जीवन के दमित और कदर्य पक्ष का उल्लेख है, पर ऐसे, कि निष्ठा गिरती या टूटती नहीं है। 'वह हारेगा नहीं!' कहानी इसका अच्छा उदाहरण है।

यह दूसरी बात है कि एकाध कहानी सम्भवता से आगे खिच गई है, पर वहाँ भी लेखक के आग्रह में किंचित सामाजिक उपादेयता है।

कुल मिलाकर सोती जी की ये कहानियां सरल और ग्राह्य हैं। शैली में प्रसाद है और अनावश्यक का परिहार। भारीपन नहीं है, न ज्ञान का प्रदर्शन है। सहानुभूति के स्पन्दन से वे सजीव है और पढ़ने पर कुछ कसक छोड़े बिना नहीं रहतीं।

श्री महेशचन्द्र की यह कृति, आशा है, सत्कार पायेगी।

ऋषिभवन, दिल्ली

१३-६-५६

जैनेन्द्रकुमार

# कहानियों से पहले

"यह सब बकवास है...!"

अभी-अभी मेरा एक दोस्त मुझ से झगड़ कर गया है।

उसका आग्रह था कि किताब में मूल रचना से पहले लेखक स्वयं उसकी वकालत करे—इधर-उधर के तूल तबील मिलाए—यह सब बकवास है! अमाँ, जो बात रचना स्वयं नहीं कह पाई, उसकी वकालत करके तुम कह दोगे ?

एक तरफ़ दोस्त का आग्रह है और दूसरी तरफ़ स्वयं मेरी स्थिति है कि किताब में मूल रचना से पहले कुछ पढ़ना भला लगता रहा है।

निष्कर्ष यह हाथ आता है कि पाठक दो तरह के होते हैं—एक तरह के पाठक का नमूना मेरा दोस्त है और दूसरी तरह का स्वयं मैं !

यदि आप मेरे दोस्त की श्रेणी के पाठक हैं तो स्वभावतः आपने इन पंक्तियों को भी न पढ़ा होगा ; और इसीलिए यह संकेत भी निरर्थक ही होगा कि आप मेरी

ओर से पूर्ण स्वतन्त्र हैं कि इन पन्नों को उलट जाय और पहली कहानी से आरम्भ करें।

और यदि आप मेरी श्रेणी के पाठक हैं तो लीजिए, ये शब्द आपके लिये हैं :

सबसे पहली बात मुझे यह कहनी है कि गत पाँच वर्षों में लिखी गई मेरी कहानियों में से चुनी गई ये कहानियाँ पुरानी कहानियाँ हैं, नई नहीं !

'यह नवीनता का युग है'—ऐसा कहने में और चाहे जो हो, बेचारी नवीनता तो रह नहीं गई। यह वाक्य इतनी बार और इतने अन्दाज़ में कहा जाता है कि इसमें नवीनता जैसी कोई बात नज़र न आकर ढर्रे-बाज़ी और बासीपन की गन्ध ही आती है। गन्ध आये न आये, जब कॉफी हाउस के प्यालों से लेकर फग्गन चाय वाले के कुल्हड़ तक चीखते हैं कि नवीनता का युग है—नवीनता का युग है; तो कोई न कोई बात है ज़रूर! आज के सामाजिक-जीवन में कुछ न कुछ ऐसा है कि इस ढर्रे के वाक्य के सत्य को स्वीकारना ही पड़ता है!

सुनते आये हैं कि साहित्य जीवन का दर्पण होता है। जीवन में नवीनता है तो साहित्य में भी नवीनता आएगी ही; और जब सम्पूर्ण साहित्य में नवीनता आएगी तो बेचारी कहानी ही कैसे पल्ला-झाड़कर निकल सकेगी ?

आजकल बाजार में 'नई कहानी' शब्द प्रायः ही सुनाई पड़ता है। वास्तव में यह शब्द आया है 'नई कविता' की नकल में। हिन्दी

की नई कविता अपनी पूर्व परम्परा की तीव्र प्रतिक्रिया और उसके प्रति विद्रोह का नारा है। हिन्दी की नई कहानी के बारे में यह बात इतने ज़ोर के साथ तो नहीं कही जा सकती; क्योंकि नई कहानी एक हद तक अपने पूर्ववर्तियों का अनुसरण कर ही रही है; फिर भी 'नई कविता' के प्रभाव में आकर नये कहानीकार भी कार्टूनों की तरह आकर्षित करने वाले लेकिन जब तक उनके नीचे लिखे को न पढ़ा जाय तब तक परेशानी में डाले रखने वाले शीर्षक; शराबियों जैसी डोलती-चलती भाषा-शैली, विराम चिह्नों के विचित्र (कभी-कभी बेहूदा भी!) प्रयोग, प्रतीक-भंगी व्यंजना और अभिव्यक्ति के 'सडन ट्विस्ट' का सहारा लेने लगे हैं। विषय का दुखद पक्ष यह है कि यह प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है। अधिकांश कहानीकार स्वयं को 'नया कहानीकार' कहने-कहलाने में गर्व अनुभव करने लगे हैं!

पिछले वर्षों में हिन्दी में ऐसी कई कहानियाँ लिखी गई हैं जो कि प्रथम श्रेणी की रचना होने की क्षमता रखती थीं; किन्तु 'नई कहानी' बनने के आग्रह में पिट-छित गईं। ऐसी कहानियों का एक अच्छा नमूना राजेन्द्र यादव की रचना 'एक कमज़ोर लड़की की कहानी' है! राजेन्द्र ने कहानी को नया फॉर्म देने के मोह में उसके आरंभ और अन्त को दुर्बोध और विकृत बना दिया है।

प्रेमचन्द के पश्चात् हिन्दी की कहानी के कला पक्ष का रूप-विधान, गठन, चरित्र-चित्रण भाषा शैली आदि सभी दृष्टियों से विकास हुआ है। इस विकास यात्रा में जैनेन्द्र की सूक्ष्म दृष्टि, यशपाल का यथार्थ प्रस्तुतिकरण, अज्ञेय के प्रयोग और अश्क के रोमांटिसिज्म तथा उनकी सांकेतिकता का विशेष योगदान रहा है। इनके पश्चात् विष्णु प्रभाकर, अमृतराय, निर्गुण, कमलेश्वर, कृष्णा सोबती, उषा, अमरकान्त आदि आज की हिन्दी कहानी की शक्ति हैं। नई पीढ़ी के

कथाकारों में एक नाम है जिसकी गणना प्रायः आलोचकों द्वारा नहीं की जाती लेकिन उस नाम से कुछ बहुत शक्तिशाली कहानियाँ आई हैं। यह नाम है—आनन्द प्रकाश जैन। उत्तरवर्ती पीढ़ियों को परम्परा का प्रसाद मिलता रहा है; और मेरा विश्वास इस परम्परा के परिष्कार में है, इसके प्रति विद्रोह में नहीं।

यह सब देखते ही स्वयं को 'नये कहानी-लेखक' कहने वालों की भीड़ के सामने खड़े होकर यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि मुझे कहानी का पुराना रूप ही पसन्द है और मेरी ये कहानियाँ भी पुरानी कहानियाँ ही हैं, नई नहीं।

नई कहानी का नारा देने वालों के सामने मुख्य आकर्षण होता है—किसी भी तरह पाठकों को चौंका कर आकर्षित करना और अपने कथाकार की कमजोरियों को छुपाना। इस महान लक्ष्य (!) की प्राप्ति के लिए नये कथाकार और भी कई माध्यमों का आश्रय ग्रहण कर रहे हैं। इन माध्यमों में प्रमुख हैं: ग्राम कथा अथवा शहरी कथा, ये दोनों आश्रय न दें तो फिर कस्बा-कथा का स्पेशलिस्ट होना, आंचलिक कथा के नाम पर किसी अंचल विशेष के जन-जीवन का अध्ययन होने और न होने की स्थिति में भी लोकल कलर, बोली के नितान्त अप्रचलित शब्दों की ठूंसम-ठूंस, असाधारण भले ही असम्भावित भी हों)! पात्रों और घटनाओं का सृजन! मार्कण्डेय तो अपनी इस विशेषता (!) के कारण काफी चर्चा का विषय बन ही चुके हैं; अन्य कई नये कथाकार भी विज्ञापन के इस सस्ते साधन का लाभ उठाने के लिए आतुर दिखलाई पड़ रहे हैं। आज की ग्राम-कथाओं में 'गत्ती भगत' जैसे कुछेक अपवादों को छोड़ दें तो अधिकांश में ग्राम-जीवन का स्पन्दन और उनकी समस्याओं और संघर्ष का चित्रण नहीं ही होता।

कमलेश्वर अच्छी-खासी कहानियाँ लिख रहे हैं, लेकिन जाने क्यों मात्र कस्बे का कहानीकार होने का आग्रह उनमें बहुत प्रबल है। कुछ अन्य कथाकार पर्वतीय प्रदेश के कथाकार, मिल मजदूरों के कथाकार अथवा कल्पना के सहारे विदेशी पृष्ठभूमि पर लिखी जाने वाली कहानियों के कथाकार बनने की योजनाएँ बनाने में व्यस्त हैं।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न सामने आकर खड़ा हो जाता है! क्या प्रवृत्ति विशेष में स्पेशलाइज हुए बिना कोई श्रेष्ठ कहानियाँ लिख ही नहीं सकता?

वास्तव में किसी भी सृजन का महत्त्व उसके सम्पूर्ण प्रभाव के कारण आँका जाता है न कि किसी अंचल विशेष का लेबिल उस पर लगा होने के कारण!

इस संग्रह की कहानियों के साथ किसी स्थल विशेष की कहानियाँ बनने का कोई आग्रह नहीं है। प्रेरणा का जो भी आदेश रहा वही अक्षर पा गया।

ये कहानियाँ जैसा कि मैंने पहले भी कहा—पुराने ढर्रे की कहानियाँ हैं। इनमें किसी प्रकार के नये, आयाम, नई भावभूमि, नई अभिव्यक्ति, नई इमेज या इसी प्रकार का कुछ भी नया होने का दावा मुझे नहीं करना है।

'वह माँ थी!' के सम्बन्ध में दर्जन से ऊपर पाठकों के पत्र आये, कुछ में प्रशंसा थी, कुछ में कहानी के अस्वाभाविक होने की शिकायत भी। मैं अपनी ओर कोई सफ़ाई न देकर यह तथ्य पाठकों के सम्मुख रखना चाहूँगा कि भिखारियों द्वारा अपने बच्चों के अंग-भंग किए जाने की घटनाएँ मैंने स्वयं अपनी आँखों देखी हैं!

कुछ पाठकों को इसी प्रकार की शिकायत 'सीमा' और 'भूखा अंकुर' से भी रही है। इस शिकायत के बारे में सोचता हूँ तो वही सुना-सुनाया सत्य मेरे सामने आकर खड़ा हो जाता है—कभी-कभी सत्य कल्पना से भी विचित्र होता है !

'मिस्टर धीरेन्द्र' के विषय में कहा गया है कि वह कहानी न होकर स्केच है। मुझे भी यह स्वीकारने में कोई संकोच नहीं है। वैसे भी कहानी–स्केच की विभाजन-रेखा बहुत धुंधली हो गई है और अधिक धुंधली होती जा रही है !

कहानियाँ आपके हाथ में है—इन्हे देख-पढ़ कर आपका जो मत बने, उसे प्रेषित करने के लिए आप मेरी ओर से अग्रिम धन्यवाद सहित निमंत्रित हैं।

६६, नजफ़गढ़ रोड,
नई दिल्ली-१५

—महेश चन्द्र सोती

## क्रम

## महकती शाम और भूख !

कनॉट प्लेस !

नई दिल्ली का जगमगाता स्वर्ग...आधुनिकता के मादक रंग में सराबोर आमोद-प्रमोद का प्रमुख आकर्षण केन्द्र अपनी सम्पूर्ण आभा के साथ जगमगा रहा था। ऊपर आसमान पर भूरे बादलों में धूमिल-धूमिल टिमटिमाते तारे छिटके हुए थे। रह-रह कर बादलों में बिजली कौंध रही थी। वातावरण काफ़ी ठंड लिए हुए था.. ठंड जो गर्मी पर विजय पाने का जैसे डंका पीट रही हो।

अंधेरे में, चमेली के फूलों से भरी एक त्रिकोणाकार क्यारी के साथ पड़ी हरे रंग की बैंच पर मैं पार्क के एक भाग में बैठा हुआ था। बस, ऐसे ही बैठा था, कह लो—बेकार।

पीछे पग-ध्वनि सुनाई पड़ी। घूम कर देखने को मन हुआ, पर बैठा रहा। ठीक मेरे पीछे कोई आकर रुका। आहिस्ता से दो बाजू बैंच पर टिके। तब साड़ी की सर-सराहट ! मैं कुछ घबराया। पलट कर देखना ही चाहता था कि फिर रुक गया। एक अजीब सी महक से मैं अन्दर-बाहर सुवासित हो उठा। मैं कुछ कहूँ, अपनी

जिज्ञासा, अपनी घबराहट को शब्द दूँ कि सुनायी पड़ा, "बाबू ! कुछ मिलेगा ? भूखी हूँ ।"

मैं कुछ कहूँ, जो पूछा गया है कम से कम उसके उत्तर स्वरूप ही, इससे पहले ही वह युवा लड़की घूम कर मेरी बाँयी ओर बैंच पर आकर बैठ गई ।

मैं सोच रहा था : तनिक देखूँ तो सही यह माँग करने वाली लड़की है कैसी ? उसने क्या पहना है ? अभी-अभी जो भूख की सूचना मुझे दी गयी है, क्या वस्तुतः वह सही है ? उसकी आँखें भूखी हैं भी या ऐसे ही उसके मुख से, स्वयं रटा हुआ, या रटाया गया, वाक्य फिसल पड़ा है ?

मैं सोच रहा था कि उस लड़की ने बड़े सहज में टकटकी लगा मुझे ही परखना आरम्भ कर दिया। इस आकस्मिक हमले के लिए मैं बिल्कुल तैयार न था। कुछ करना ही चाहिए, यह सोचकर अपने हाथों को सामने पैरों पर रखते हुए, आवश्यकता से अधिक गम्भीर होते हुए, मैंने पूछा, "नाम क्या है तुम्हारा ?"

"नाम, मेरा नाम ? अच्छा तो क्या नाम सुन लेने के बाद ही कुछ देने का फैसला करोगे ?" उसने बड़े नाटकीय ढंग से उत्तर दिया।

मैं इस कहने के लहजे पर जैसे मुग्ध हो उठा।

"तुम्हारा कोई न कोई नाम तो होगा ही, बस वही बता दो।"

"रेवा !"

"सिर्फ रेवा ?"

"रेवा डे !"

"ओह तो तुम बंगालिन हो ?"

"हाँ।"

"तुम भूखी हो ?"

"वह तो हूँ ही, दे पाओगे कुछ ?"

"कितना ?"

"सिर्फ एक रुपया।"

वह उठ खड़ी हुई। सामने मोड़ पर घूमती कार के प्रकाश में मैंने एक पल के लिए रेवा डे का चेहरा देखा। अच्छा था, जैसा होना चाहिए वैसा ही था। मैंने जेब से पर्स निकाल कर टिच बटन खोल रुपये का एक करारा, बिना मुड़ा नोट उसकी तरफ बढ़ाया, "लो रेवा ! लेकिन एक बात तो बताओ। बता सकोगी ?"

"बोलो !" नोट को बीच से मोड़ कर ब्लाउज़ के ऊपर से अन्दर रखते हुए रेवा फिर बैठ गई, इस बार मेरे काफी पास। उसकी गुलाबी साड़ी का पल्ला मेरी पैंट से मिल गया, शायद अनजाने ही। मैंने भी कोई आपत्ति न की।

"अच्छा रेवा, अपनी भूख शान्त करने के लिए तुम अब कहाँ जाओगी ?"

"देखो, यदि रुक सको तो एक घंटा यहीं मेरा इन्तज़ार करो। मैं अभी लौट कर आऊँगी। तब जो पूछोगे, सब बता दूँगी। अभी मैं ज़रा जल्दी में हूँ !" कहते-कहते रेवा उठ खड़ी हुई।

उसने मुझसे यह भी न पूछा कि मैं यहाँ बैठकर उसका इन्तजार करूँगा भी या नहीं ? और वह चली गयी। मैं कुछ देर उसे जाते देखता रहा...

शायद रेवा जानती थी कि मैं वहाँ बैठकर उसका इन्तज़ार अवश्य करूँगा, इसीलिए तो उसने कुछ पूछा नहीं और शायद तभी तो मैं वहाँ, उस अन्धेरे में, उस गीले से ऊबा देने वाले वातावरण में, कनॉट प्लेस की रंगीन चहल-पहल से काफी दूर सोयी क्यारियों के सोये से फूलों के बीच बैठा रहा, बैठा रहा।

थोड़ी देर बाद दूर से एक छाया आती दिखायी दी। वह छाया पल-पल पास होती गई, स्पष्ट होती गई और मैंने देखा वह रेवा

थी...रेवा डे ! सामने मोड़ पर एक कार घूमी और इस बार पहले की तरह मैं उस प्रकाश में रेवा को देखता ही रह गया...

"मुझे विश्वास था तुम अवश्य मेरी राह देखोगे !" रेवा मुस्करायी और पहले की तरह बैंच पर बैठ गई।

"मुझे भी विश्वास था, तुम अवश्य लौटोगी। बस, इसीलिए बैठा रहा।"

तब रेवा ने ऊपर से ब्लाउज के अन्दर फिर अपना हाथ डाला और रुपये का एक नोट मेरी ओर बढ़ाते हुए बोली, "धन्यवाद !"

यह मैंने सोचा ही न था कि वह लड़की इस तरह मुझे नोट वापस करेगी। इस परिस्थिति के लिए मैं बिल्कुल तैयार न था। मुझे लगा, जैसे मैंने अनजाने कोई बिजली का तार छू लिया हो। मैं ऊपर से नीचे तक झनझना उठा। तब मैंने रेवा की ओर देखा—नोट मुझे लेना ही होगा; ऐसे कुछ भाव रेवा के चेहरे पर थे; और नोट मैंने ले लिया, कहना चाहिए ले लेना पड़ा।

"लेकिन रेवा ! यह वापस क्यों किया ? तुमने कुछ खाया नहीं ?"

"खाना...वह तो मैं अब घर जाकर खाऊँगी। पहले मेरे बापू की पीने की हवस पूरी होगी फिर यदि कुछ बच पाया, तो मैं भी खा लूँगी !"

रेवा एक पल को रुकी और फिर बोली, "तुम्हारे उस नोट ने मेरी कितनी सहायता की, जानते हो ?"

"कहाँ, वह तो तुमने मुझे वापस दे दिया है।"

"वह और है। उस तुम्हारे एक नोट की बदौलत ही मैं ग्यारह रुपये पा सकी।"

"कैसे ?"

"ऐसे कहते हो, जैसे कुछ जानते ही नहीं। एक लड़की...रात का समय और यह लुटेरा कनॉट प्लेस ! कोई ऐसी बात तो नहीं जो कुछ समझ ही न सको। मैं भला और कहाँ से रुपये पा सकूँगी ! सिर्फ

एक वही साधन है...वही साधन है। लेकिन यह कनॉट प्लेस है। यहाँ सौदा भी होता है तो काफी कुछ देखभाल कर। कहना चाहिए, यहाँ सौदा होता है आधुनिकता का, तड़क-भड़क का, सरसराती साड़ियों का, पाउडर से पुते चेहरों का, लिप्सटिक से रंगे लाल अधरों का। उसके बिना यहाँ गुजारा नहीं। मेरे अधर नहीं देख रहे। अब ये कितने लाल हैं ? पाउडर की यह गहरी परत क्या तुम सचमुच नहीं देख पा रहे, जिसने मेरे चेहरे की कालिमा को बहुत कुछ अपने आवरण में छिपा लिया है ! अधरों की इस क्षणिक लालिमा से, चेहरे की इस सफेदी से ही तो मैं ये रुपये पा सकी। यदि यह सब न होता तो आज की रात मुझे कोई पूछता ही नहीं। हर रोज़ शाम के धुंधलके में मैं यहाँ खाली हाथ आती हूँ। अपने निस्तेज होते चेहरे, सूखते होठों को लाली का पुट देने के लिए मैं पहले कुछ माँगती हूँ। कभी भूख के नाम पर, कभी कुछ और नया बहाना बनाकर। कभी-कभी इसके लिए भी मुझे आत्मसमर्पण करना पड़ता है और फिर सज-संवर कर एक बार और...हर रात यही होता है, यही करना पड़ता है।"

मैं संवेदना से भर उठा। क्या इस युवा लड़की को, जो यह कहती है, इससे कभी छुटकारा नहीं मिलेगा ? क्या यह सब अनिवार्य बनकर रह गया है ?

वह उठ खड़ी हुई। मेरी ओर उदास दृष्टि से देखा। मैं चाहता था कि वह थोड़ी देर और बैठी रहे पर वह चलने लगी। मैंने उसे आवाज़ देकर बुलाना चाहा कि वह अपने आप लौट पड़ी और मेरे पास आकर बोली, "मैं तो भूल ही गयी। आपके पास एक-एक के नोट होंगे ? हों तो दे दीजिये। मेरे पास दस का नोट है। अभी तुर्कमान गेट जाना है। रास्ते में कुछ मिल गया तो लेकर खाती निकल जाऊँगी। पेट कुल-मुला रहा है बहुत भूख लगी है।"

उसने दस का नोट मेरे हाथ पर रख दिया। मैंने पर्स से एक-एक के नोट निकाल, गिन कर उसे दे दिये। वही करारे, बिना मुड़े नोट—एकदम नये...कुरमुरे !

"अच्छा अब चलती हूं। विश्वास करना—आपको काफी दिनों तक भूल न सकूँगी। आज आपने मेरी कितनी सहायता की और उस सहायता के बदले कुछ भी तो लेना नहीं चाहा। नहीं तो भला ऐसी वेबसी का अवसर कौन छोड़ता है ? निश्चय जानिए और कोई होता तो मैं कदापि न बच पाती।"

और वह चली गई। जाने से पहले मुस्करायी। कितनी नीरस और व्यथापूर्ण थी वह मुस्कान जो केवल मेरे लिए थी। मैं कुछ देर और वहाँ बैठा रहा और फिर उठ खड़ा हुआ।

...एक सप्ताह ऐसे ही बीत गया।

और उस दिन खाली थैला हाथ में लटकाये बाजार से लौटते समय मुझे लगा जैसे रेवा डे उस दिन की तरह मुझसे अभी-अभी कह रही है, 'मैं आपको काफी दिनों तक भूल न सकूँगी। आज आपने मेरी कितनी सहायता की।' मैंने जेब में पड़े दस रुपये के उस नोट को देखा, जो रेवा डे ने उस दिन मुझे दिया था, और फिर अपने खाली थैले को। मैं एक गहरी निश्वास लेते हुए घर वापस लौट रहा था। कमीज़ की ऊपरी जेब में दस रुपये का वह नोट था और हाथ में खाली थैला !

दस रुपये का वह नोट, रेवा डे की सभी बातों की तरह जाली था, नकली था !

●●

## वह हारेगा नहीं !

फुलिया अकेले घर में तड़फ़ रही थी। घनी काली रात...सांय-सांय हवा में दम तोड़ती सी मिट्टी के तेल की डिबिया—जैसे अब बुझी ! छोटी-सी चारपायी पर मैले कपड़ों में लिपटा हाड़ का एक पिंजर ! अन्दर को धंसी छोटी-छोटी आँखें। उखड़ी-उखड़ी साँस के चलने की घर-घर की आवाज़, फुलिया के कलेजे पर रह-रह कर प्रहार कर रही थी। वह उसका बच्चा, इकलौता बच्चा ! जो अब कुछ घड़ी का मेहमान है !

दूर एक शानदार दूकान में कुर्सी पर आराम से बैठे डाक्टर के सामने स्टूल पर बैठा एक व्यक्ति कह रहा था, "डॉक्टर साहब, क्या आप इस समय मेरे घर नहीं चल सकते ? आप उसे बचा सकते हैं, डाक्टर साहब ! मेरे बच्चे की जान बचा लीजिए। मैं आपका एहसान ज़िन्दगी भर नहीं भूलूँगा।"

डॉक्टर कुर्सी के हत्थे को अपने सीधे हाथ से बजाते हुए, शब्दों को तराज़ू में तोलता सा बोला, "घर मैं चल तो सकता हूँ पर मेरी फीस है दस रुपये। दे सकोगे ?"

"मेरे पास सिर्फ पाँच रुपये हैं, डॉक्टर साहब ! आप

इस समय चले चलिए। मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि कल शाम तक आपके पूरे रुपये चुका दूँगा।"

"पाँच से क्या होता है? इतने की तो दवा आ जाएगी। ऐसा करो, दवा ले जाओ। आराम हो जाएगा।"

जेब का बोझ हल्का कर छोटी-सी सफेद शीशी में मैली सी दवा लिए वह सड़क के किनारे दौड़ रहा था। वृद्ध शरीर, लड़खड़ाते पग, लेकिन फिर भी वह दौड़ रहा था, बेतहाशा। बिजली के प्रकाश में चमकती तारकोल की सड़क पीछे सरकती जा रही थी। मोटरें दौड़ रही थीं, बड़े-बड़े ट्रक, छोटी सुन्दर चमकती कारें, किराये के ताँगे, रिक्शा और...और एक इन्सान के दो पैर! दौड़ में एक होड़ थी, बेबसी थी, जल्दी से जल्दी घर पहुँचने की बेताबी थी।

वह था नत्थू ताँगेवाला, फुलिया का जीवन सर्वस्व और दम तोड़ते इकलौते बच्चे का असहाय बाप!

किवाड़ों को ज़ोर से ठेल कर नत्थू अपने टूटे-फूटे घर में पहुँचा। हवा की साँय-साँय कभी की समाप्त हो चुकी थी। दिये की लौ भी अब मौन, निश्चल, एकाग्र जल रही थी। छोटी-सी चारपायी खाली थी। मुँह तक मैली चादर ओढ़े उसका लाल नंगी ज़मीन पर सीधा लेटा था और फुलिया दहाड मार-मार कर रो रही थी। नत्थू के हाथ से दवा की शीशी छूट गयी। मटमैले पानी-सी दवा अपनी बदबू फैलाती नीचे जमीन पर फैलने लगी।

फुलिया ने रोते-रोते अपना माथा पीट लिया और बोली, "हाय, अब आए हो! मेरा लाल तड़फ़-तड़फ़ कर दम तोड़ गया और तुम अब आ रहे हो?"

नत्थू जहाँ खड़ा था, वहीं धम से बैठ गया। उसका मन हुआ कि वह रो-रो कर जमीन-आसमान एक कर दे, पर उससे रोया न गया। फुलिया अब छाती पीट, दहाड़ मार-मार कर रो रही थी। नत्थू किसी

तरह अपने स्थान से उठा और फुलिया के पास जाकर बोला, "रो मत फुलिया ! मत रो !"

फुलिया और ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी।

काफी रात तक फुलिया रोती रही। नत्थू दिलासा देता रहा।

सुबह नत्थू श्मशान से लुटा सा लौटा तो काफी धूप चढ़ आई थी। फुलिया अब भी उसी रात वाले स्थान पर बैठी सुबक रही थी। नत्थू ने कपड़े उतारे। चौक के पत्थर पर कोयला घिस कर दाँत माँजे और बाहर सड़क के बम्बे पर नहाने चला गया। नहा-धोकर, कपड़े पहनकर वह ताँगा जोड़ने फिर बाहर निकला। ताँगा जोड़कर कुछ लेने घर में आया तो फुलिया रोते-रोते उस पर बरस पड़ी।

"क्यों जी ! आज तो कम से कम ताँगा न जोड़ते।"

नत्थू की आँखें भर आईं। रुंधे गले से बोला, "फुलिया याद न दिला कि रात मेरा इकलौता बेटा मुझे छोड़कर चला गया। मैं भूल जाना चाहता हूँ कि अभी घंटा भर हुआ मैं अपने जिगर के टुकड़े को पत्थर के साथ बाँधकर नदी में सुला आया हूँ। जानती तो है, रोज पाँच रुपये ताँगे के मालिक को देने पड़ते हैं और उसके बाद पेट के लिये भी तो कुछ जुटाना ही पड़ता है। यह जिन्दगी इतनी आसान कहाँ है कि हम दुख-सुख में दो घड़ी आराम से बैठ सकें। फुलिया, मैं तुझसे कहता हूं, अब धीरज रख। रोने से कोई फायदा नहीं। मैं जहाँ तक होगा जल्दी ही लौटने की कोशिश करूँगा। तू पीछे कुछ बनाकर जरूर खा लेना, तुझे मेरी कसम..." और बिना फुलिया की ओर देखे वह घर से निकल पड़ा।

ताँगा सड़क पर दौड़ रहा था। नत्थू सोच रहा था...यह क्या हो गया ? कल तक वह एक बच्चे का बाप था और आज वह अपने उसी

बच्चे को अपने ही हाथों से फेंक आया। सहसा उसकी आँखों के आगे एक सफेद धब्बा-सा उभरने लगा। वह सफेद गोल धब्बा साफ़ और पास होता गया। वह बढ़ता गया, फैलता गया। अब उसकी आँखों के आगे एक नहीं अनेक धब्बे थे। धीरे-धीरे वे रुपए की शक्ल में बदल गए। रुपए...चाँदी के चमचमाते रुपए, चमचमाते दमदमाते रुपए। रुपया जो इस दुनिया का भगवान है, ईमान है सब कुछ है। उसने सोचा—यदि कल उसकी जेब में उस डॉक्टर की दुकान में बैठे हुए पाँच रुपए के स्थान पर बहुत से रुपए होते तो वह उस डॉक्टर को खरीद लेता और क्या पता सचमुच ही उसका बच्चा भला-चंगा हो जाता। डॉक्टर ने उसके साथ चलने से केवल इसलिए मना कर दिया कि वह उसकी फीस की हवस पूरी न कर सका। रुपए को जिन्दगी के साथ तोला जाता है, नत्थू बड़बड़ाया। उसे लगा कि वह अभी चीख पड़ेगा।

तभी उसे सुनाई पड़ा—पीछे कोई उसे आवाज़ दे रहा था।

नत्थू रुक गया। कुछ पल के लिए वे धब्बे, वे रुपये सब उसकी आँखों से ओझल हो गए।

"दफ्तर चलेगा?" एक घरघराती आवाज़ कानों में पड़ी।

"चलूँगा सेठ!"

"अभी नौ-बीस हैं। हमें दस बजे वहाँ पहुँच जाना चाहिए, नहीं तो हजारों का नुकसान हो जायगा। पहुँचा सकेगा ?"

नत्थू के आगे एक बार फिर वे धब्बे, वे रुपये नाचने लगे। वह अपनी सीट से उठता हुआ बोला, "बैठो सेठ। दस से पहले पहुँचाऊँगा। इनाम तो पूरा मिलेगा न ?"

"हाँ मिलेगा, चल।"

सेठ पिछली सीट पर आ बैठा। नत्थू को बारह मील का सफ़र तय करना था, पूरे बारह मील और समय सिर्फ

चालीस मिनट। नत्थू ने घोड़े को सरपट दौड़ा दिया। चारों तरफ उजली धूप छिटकी हुई थी पर नत्थू को लगा जैसे उसकी आँखों के आगे रुपयों की बारिश हो रही है। एक के बाद एक मील के पत्थर पीछे सरकते गए और जब नत्थू साउथ-ब्लॉक पहुँचा तो वह और उसका घोड़ा बुरी तरह हाँफ रहे थे। नत्थू ताँगे से उतरा और बोला, "लो सेठ, आ गया तुम्हारा दफ्तर ! दस तो अभी बजा नहीं होगा !"

"शाबाश ताँगे वाले !" कहकर सेठ ही...ही....कर हँस पड़ा और दस का नोट निकाल कर नत्थू को देते हुए बोला, "लो, यह रहा तुम्हारा इनाम !"

दस रुपये का नोट....आध-पौन घंटे में दस रुपये की कमाई... दस रुपये जिससे वह कल उस डॉक्टर को खरीद सकता था। ये दस रुपये जो उसके बेटे की अकारण मौत का कारण बने। उसका जी चाहा, उसका जी मचला कि वह उस डाक्टर के पास चलकर इस नोट के टुकड़े-टुकड़े कर दे। पर वह रुक गया और ताँगा मोड़कर एक चौड़ी सड़क पर निकल आया। आज वह खूब कमायेगा। अपनी शक्ति भर कमायेगा। वह आज अपना एक मिनट भी बेकार नहीं खोयेगा। अभी कल तक उसने कभी पैसे की परवाह नहीं की। जो मिल गया, उसी पर संतोष किया। पर इसी संतोष ने आख़िर उसे डस लिया।

उसे एक आवाज़ और सुनायी दी—

"ए तांगे, सब्ज़ीमण्डी चलेगा ?"

"चलूँगा सरकार, दो रुपये होंगे !"

जवाब में वह सवारी ताँगे में बैठ गयी ।

नत्थू चल पड़ा, पहले की तरह तेज रफ्तार से ।

जैसे दस बजे से पहले ही उसे सब्जीमंडी पहुँच जाना हो, नहीं तो हज़ारों का नुकसान हो जायेगा। उसने घोड़े को चाबुक लगायी और

रास ढीली छोड़ दी। घोड़ा दुलकी छोड़, सरपट दौड़ने लगा। पीछे से सवारी चिल्लायी, "अरे भय्या, धीरे चलाओ। कहीं टक्कर हो जायगी।" नत्थू पर तो एक धुन सवार थी। आध घंटे में सब्जीमंडी जरूर पहुँचना है, नहीं तो हजारों का नुकसान हो जाएगा। वे धब्बे, वे रुपये अब फिर उसकी दृष्टि के आगे नाचने लगे थे।

चौराहे पर सिपाही ने सीटी बजायी पर नत्थू कहाँ रुकने वाला था। नत्थू को तो जैसे होश ही न था। उसका घोड़ा सड़क पर सरपट दौड़ रहा था और उसकी फटी कमीज़ हवा में फर-फर उड़ रही थी। तभी मोड़ पर से एक ट्रक गुज़रा और दूसरे ही पल नत्थू सड़क पर औंधे मुँह जा पड़ा। ताँगा उलट गया। घोड़े ने थोड़ी देर में ही पैर फैला दिये।

माथे से बहते खून को कमीज़ के पल्ले से पोंछते हुए नत्थू उठा। भाग्य से वहाँ दूर तक कोई पुलिस-वाला न था। ट्रकवाले के हाथ पैर जोड़कर वह ताँगे को ठेल कर उसके मालिक के यहाँ खड़ा कर आया।

मालिक भूखे शेर सा गुर्राया।

नत्थू नत मस्तक हो, सब चुप सुनता रहा।

शाम को दिन छिपने से थोड़ा पहले नत्थू अपने घर लौटा। फुलिया आँगन में चारपायी पर लेटी थी। दस रुपये उसके हाथ पर रखे तो वह बोली, "ताँगा कहाँ हैं?"

"ट्रक से टक्कर हो गई। घोड़ा मर गया।" कहते हुए नत्थू चारपाई की पट्टी पर बैठ गया।

फुलिया ने नत्थू के मुँह की तरफ देखा। वहाँ न कोई ग़म था, न परेशानी।

वह चुप बैठा था, जैसे कुछ हुआ ही न हो।

फुलिया फिर बड़बड़ायी, "अब क्या होगा? कैसे करोगे? कैसे अपना और मेरा पेट भरोगे? अब कौन देगा तुम्हें ताँगा?"

नत्थू बोला "तूने बड़ी फिक्र की फुलिया, छोड़ भी। ला, कुछ खाने को दे। सुबह से एक दाना भी मुँह में नहीं गया।"

रात बीती। दिन आया। नत्थू खाली हाथ घर से बाहर निकला; लेकिन शाम को जब वह लौटा तो उसके साथ एक साइकिल रिक्शा भी था। औसारे में एक बल्ली के सहारे खड़ी फुलिया ने पसीने से तरबतर, ऊपर से नीचे तक हाँफते, मगर मुस्कराते नत्थू को देखा तो उसे ऐसा लगा जैसे वह हारेगा नहीं। वह कभी नहीं हारेगा !

उसे लगा—इस दुनिया में दुःख, तकलीफ, आफतें, मौत, सब झूठ है। सच है तो यह पेट, यह भूख, यह आग—जिसके लिए उसके सामने खड़ा हुआ अन्दर का नत्थू रो रहा है और बाहर का नत्थू मुस्करा रहा है ! ●●

## वह माँ थी !

दूर से उसने देखा, वह आज भी उसी स्थान पर बैठी हुई थी। तीन दिन से मोना बराबर उस औरत को देख रहा है। साथ में छोटी-सी बच्ची लिए वह रोज आती है। दो घंटे फुटपाथ पर बैठकर हाथ फैलाती है। मोना को खुद उस स्थान पर बैठते हुए वर्षों व्यतीत हो गए और यह औरत, मोना को आभास होता है—इस शहर की नहीं है। वह कहीं दूर गाँव से आई है। इस धंधे में अभी अजनबी और नई-सी दिखाई देती है, वह लोगों के सम्मुख हाथ फैलाते हुए झिझकती है।

मोना को याद है, वह आज से तीन दिन पहले इस फुटपाथ पर आकर खड़ी हो गई थी। उस समय दोपहर ढल चुकी थी और उसने अपने पेट के लिए चार-छः आने इकट्ठे कर लिए थे। कुछ देर तक वह फुटपाथ से गुजरते हुए लोगों को देखती खड़ी रही थी। उसकी आँखों में मूक याचना के भाव थे पर मोना को यह सब समझते हुए कुछ भी देर न लगी थी। मोना को उस समय उस पर क्रोध आ रहा था। यह इस तरह खड़ी क्यों है? पेट की भूख शान्त करनी है तो बैठकर माँगना शुरू करे।

दिन छिपने लगा। मोना ने चाहा कि अपने पास से ही इसे आज कुछ पैसे दे दे, पर इस बात को वह सोचकर ही रह गया और घर चला आया। वह भी न जाने किधर चली गई। पता नहीं उस रात माँ-बेटी ने कुछ खाया भी या नहीं। उधर मोना भी चैन से न सो सका। फूस की झोंपड़ी में वह रात उसने बड़ी परेशानी से काटी। सारी रात उसके मस्तिष्क में वह औरत घूमती रही, उदास सी आँखें मूक याचना लिए।

वह अब धीरे-धीरे माँगने की कला में अभ्यस्त हो रही है। दिन भर में आठ-दस आने कमा ही लेती है। मोना बहुत खुश है और आज तो वह और भी अधिक खुश है। पिछली रात उसने बहुत-सी बातें सोची हैं। एक नवीन सुख की अनुभूति से वह सारी रात जागता रहा है। सामने फुटपाथ पर वह औरत अपनी बच्ची के साथ बैठी है। मोना यह सब अच्छी तरह देख सकता है। उसका मलिन आँचल ज़मीन पर फैला हुआ है और कुछ ताँबे के पैसे उस पर पड़े हुए हैं। मोना ने अपने कदम तेजी से बढ़ाए। आज मोना घर से एक निश्चय करके आया है। तीन दिन से वह औरत उसके पास ही फुटपाथ पर बैठती है पर दोनों आपस में एक शब्द भी नहीं बोले हैं। वह न बोले तो न सही, मोना आज अवश्य अपना मौन तोड़ेगा।

अपनी जगह बैठकर उसने आराम की साँस ली। वह थोड़ी देर चुप उसकी ओर देखता रहा। आज वह उसे बहुत सुन्दर दिखाई दे रही थी। आखिर वह पूछ ही बैठा, "क्या नाम है री तेरा ?"

"धनिया !" उसने उसकी ओर कनखियों से देखते हुए उत्तर दिया।

"रात को सोती कहाँ है ?"

"सामने वाले बाग के चबूतरे पर।"

"क्या अकेली है तू ?"

'बस यह लड़की है मेरी, और कोई नहीं।'

"वैसे घर कहाँ है तेरा ?"

धनिया की आँखें अनायास ही भर आईं। उसने सजल नेत्रों से मोना की ओर देखा और बोली, "क्या सुनना ही चाहते हो ?"

"रहने दे, मैं वैसे ही पूछ रहा था। एक बात मानेगी मेरी ?"

'क्या ?"

"मैं अकेला हूँ। दो ऊपर तीस का होने को आया पर अभी तक किसी औरत की तरफ आँख उठाकर नहीं देखा। बाग से आगे पुराने खंडहर में मेरी झोंपड़ी है, वहीं रहता हूँ। तुझे देखकर मन न जाने कैसा हो गया है। पिछले जन्म में हम ज़रूर ही एक साथ रहे होंगे तभी तो मेरा मन तेरी तरफ खिचता जा रहा है। अगर तू चाहे तो हम दोनों एक दूसरे के बन कर रह सकते हैं। मुझे तेरे बीते दिनों की कोई बात मालूम नहीं। न जाने किस वजह से तुझे अपना घर छोड़ना पड़ा होगा। पर हाँ, तेरे आँसू देखकर इतना ज़रूर पता लग गया है कि वह एक दुखभरी कहानी ही होगी। जो भी हो, मैं कुछ भी जानना नहीं चाहता। मेरे मन में जो था, वह मैंने तुझे साफ-साफ बता दिया। कोई जल्दी नहीं है। अच्छी तरह सोच-समझकर मुझे जवाब दे देना।"

"क्या तुम बिल्कुल अकेले रहते हो ?"

'मैं झूठ नहीं बोलता धनिया ! ग़रीब हुआ तो क्या बात है। धोखा देने से मर जाना बेहतर समझता हूँ। तू यकीन कर मेरे ऊपर। जब तक जिन्दा रहूँगा, साथ निभाऊँगा।"

"पर मेरे साथ यह रेनू भी तो है।"

"तो क्या हुआ ? जब तू मेरी बन जाएगी तो रेनू मेरी बेटी नहीं होगी ?"

"देखो, मैं भी आज तुमसे सच ही कहती हूँ। जब घर से निकली तब मन ही मन परतिग्या की थी कि पूरी जिन्दगी भर मर्द का सहारा न लूँगी। अकेले ही सारी जिन्दगी रो-धो कर काट दूँगी। पर इन तीन-चार दिनों में ही मुझे पता लग गया है कि इस दुनिया में एक बेबस

औरत का बिना सहारे रहना बड़ा मुश्किल है। आज यह भी अच्छी तरह मालूम हो गया है कि तुम से अच्छा सहारा मुझे और कहीं नहीं मिल सकता। इस समय मैं बेबसी की हालत में हूँ, फिर भी काफ़ी सोच समझ लिया है। मैं भी पूरी कोशिश करूंगी कि तुम्हारे लिए सुख का साधन बन सकूँ।"

"बस तो ठीक है, आज शाम को मेरे साथ चलना।"

मोना का मुख अपनी इस विजय पर चमक उठा। उसके जीवन में उसके मन की यह पहली विजय थी।

नववधू की तरह धनिया के कपोल रक्तिम हो उठे। स्वीकृति-स्वरूप उसने अपनी पलकें झुका लीं। आँखों की कोरों में दो आँसू उभर आए और नीचे कठोर पथरीली ज़मीन पर टपक कर फैल गए।

उस शाम पहली बार दोनों साथ-साथ गए। लजीली धनिया पीछे-पीछे चल रही थी और रेनू का हाथ पकड़े मोना आगे-आगे। धनिया खुश थी, मोना बहुत खुश था और अबोध रेनू कभी अपनी माँ की ओर देख लेती थी और कभी अपने को सहारा देनेवाले की ओर। झोंपड़ी के द्वार पर पहुँचकर मोना एक क्षण को रुका। धनिया बराबर में आ खड़ी हुई। मोना ने गम्भीर और संयत स्वर में कहा, "ले धनिया, आज यह गरीब झोंपड़ी तुझे सौंपता हूँ। दुनिया की निगाह में हम गरीब भिखमंगे, मक्कार और बदमाश हैं, पर मेरा ख्याल है कि हम उन आदमियों से हजार दरजे अच्छे हैं जो हमें ऐसा समझते और कहते हैं। आज तू जिस झोंपड़ी में आई है, वह तेरी लाज का जेवर है, हमारी इज्जत है। मैं नहीं चाहूँगा कि आज से तू भी मेरी तरह लोगों के आगे हाथ फैलाए।"

मोना ने गद्गद् होती धनिया का हाथ पकड़ा और फूस का द्वार हटा झोंपड़ी में घुस गया। धनिया ने मिट्टी का दीपक जलाया, उस छोटी-सी जगह को गौर से देखा और दृष्टि नीचे करके बैठ गई। उस रात जब सारा संसार सो रहा था, चारों ओर एक मधुर नीरवता छाई हुई थी,

वह फूँस की जीर्ण-शीर्ण झोंपड़ी जाग रही थी और देख रही थी दो गरीब स्त्री-पुरुषों के सुखद मिलन की पहली रात को।

मोना नित्य सवेरे झोंपड़ी से निकल पड़ता। धनिया और रेनू दिन भर उसकी प्रतीक्षा में आँखें बिछाए बैठी रहतीं। शाम को वह थका-माँदा घर लौटता और दिन भर की कमाई धनिया के हाथ पर रख देता। धनिया उन दस-बारह आने पैसों को देखकर पुलकित हो उठती। रात को तीनों, जो कुछ रूखा-सूखा बनता, खाकर सो जाते। मोना को आश्चर्य होता, जब वह देखता कि इन दस-बारह आने पैसों से धनिया न जाने किस तरह खाने का खर्च चला लेती है।

दो दिन से मोना की तबियत खराब थी। वह बाहर जाना चाहता था, पर धनिया के आगे उसकी एक न चली। दो दिन तो वह किसी तरह खाने का खर्च चलाती रही पर अब ऐसा करना सर्वथा असम्भव हो गया था। आज विवश होकर धनिया ने मुँह-अंधेरे ही रेनू को माँगने के लिए भेज दिया। रेनू अपनी छोटी-सी जिन्दगी में पहली बार अकेली माँगने गई। शाम को लौटी तो धनिया के हाथ पर केवल आठ पैसे रखे। धनिया को यह देखकर बड़ा गुस्सा आया।

"दिन भर क्या करती रही?"

"माँग रही थी, माँ!"

"क्या माँग रही थी, मेरा सिर? सुबह से शाम हो गई घूमते-घूमते और लाई है सिर्फ आठ पैसे।"

"जब किसी ने दिए ही नहीं तो लाता कहाँ से? मेरा तो मुँह भी थक गया मांगते-माँगते।"

"वहाँ गई थी सिनेमा के पिछवाड़े, जहाँ टिकट के लिए भीड़ लगती है?"

"वहाँ भी गई थी, माँ ! आधा दिन तो वहीं खड़े-खड़े बीत गया। वहाँ से कुल दो पैसे मिले।"

"आधे दिन में सिर्फ दो पैसे री, सिर्फ दो पैसे ?"

"सच माँ, मेरा कोई कसूर नहीं। वहाँ एक अन्धा लड़का और एक लड़की पहले से ही आए हुए थे। मैं भी माँग रही थी और वे भी माँग रहे थे। ज्यादातर लोग उस अन्धे लड़के को पैसे दे रहे थे और जब मैं उनके आगे हाथ फैलाती तो पैसा देना तो दूर, वे मुझे बुरी तरह दुतकार देते। कहते, "तू भली-चंगी तो है, कोई काम क्यों नहीं करती छोटा-मोटा ?"

धनिया चुप हो गई। उसे लगा—रेनू का इसमें सचमुच कोई दोष नहीं है। आठ पैसे और रेनू...अन्धा लड़का और ढेर-से ताँबे के पैसे। धनिया सोच रही थी......सोचती जा रही थी। यदि आज उसके कोई अन्धा लड़का हुआ होता तो उसके हाथ में इन आठ पैसों के स्थान पर ढेर-से पैसे हुए होते। ताँबे के गोल-गोल छेददार पैसे, बादशाह की मूरत वाले पैसे और चमकती हुई गिलट के अधन्ने... इकन्नियाँ। तब वह कितनी खुश होती ! आज वह कितनी मजबूर है ! वह उधर तकलीफ में पड़े हुए हैं, रेनू है और अपना पापी पेट है। इन तीन पेटों की भूख दो आने पैसों से भला कैसे शान्त हो सकेगी ! दो आने और तीन भूखे पेट...आठ पैसे और तीन खाली पेट। जीने के लिए रोटी ज़रूरी है। इसके बिना किसी तरह काम नहीं चल सकता। फिर क्या हो, कैसे हो...।

रेनू खाने के लिए शोर मचाती रही, मोना भूखी आँखों से धनिया की ओर देखता जमीन पर चुप लेटा रहा और धनिया इस घोर निराशा के बीच घिरी बैठी थी। उसके ऊपर एक नहीं चार-चार भूखी आँखें गड़ी हुई थीं। उसने एक निश्चय किया। समय आने पर वह इस निश्चय को पूरा करेगी। भगवान से प्रार्थना करेगी और यदि भगवान ने भी उस पर कृपा न की तो वह स्वयं अपने इस निश्चय को पूरा

करके रहेगी। धनिया ने अपने बढ़े हुए पेट की ओर सतृष्ण दृष्टि से देखा और सन्तोष की साँस ली।

तीन चार दिन बाद मोना भूखे पेट ही उसे मझधार में छोड़ कर चला गया। धनिया अपने भाग्य पर फूट-फूटकर रो उठी। अब वह एक बार फिर पहले की तरह संसार में अकेली थी। उसे मोना के वे शब्द याद हो आए जो उसने मरते समय फटी-फटी आँखों से उसकी ओर देखते हुए कहे थे। उसने कहा था, "धनिया अब थोड़ी देर में तू यहाँ अकेली रह जायेगी। मैं अब अधिक देर जीवित नहीं रहूँगा पर जो धरोहर मैं तेरे पास छोड़े जा रहा हूँ, उसकी मरते दम तक रक्षा करना।"

धनिया रोई, खूब रोई। जी भर कर आँसू बहाए पर आँसू बहाने से मोना तो नहीं लौट सकता था! धनिया अब रोज रेनू को लेकर माँगने जाने लगी थी। ढेर-से पैसे तो उसे न मिल पाते पर किसी तरह एक समय की रोटी लायक पैसे जुट ही जाते।

धनिया जवान थी। ताँबे के पैसे तो क्या उसे चाँदी के रुपये मिल सकते थे। बहुत-से लोग उसकी जवानी के साथ सौदा करने को तैयार थे। पर धनिया अपने पथ से विचलित न हुई। उसने अनेक बार इन सौदागरों की लच्छेदार विष-बुझी बातों को सुना, वासना से मुस्कराती हुई आँखों को देखा, चाँदी के रुपयों से भरी मजबूत मुट्ठियों को देखा, पर वह न फिसली। वह अकेली थी, उसका हमदर्द कोई न था फिर भी कोई शक्ति उसे इन मुसीबतों से लड़ने का साहस प्रदान कर रही थी। चार मास इसी तरह मुसीबतों का सामना करते-करते व्यतीत हो गए।

धनिया झोंपड़ी में पड़ी दर्द से कराह रही थी और एक कोने में बैठी रेनू आँसू बहा रही थी। चार वर्ष की रेनू माँ के इस तरह

दर्द से छटपटाने और कराहने के कारण से सर्वथा अनभिज्ञ थी। मिट्टी का दीपक धुंधला प्रकाश देता हुआ जल रहा था। आज उसे भी किसी के साथ सारी रात जागना था...इसी तरह कराहते हुए... अपना धुंधला प्रकाश फैलाते हुए।

एक पहर रात बीत चली। रेनू वहीं कोने में बैठे-बैठे सो गई। दीपक जलता रहा और धनिया मन-ही-मन भगवान से प्रार्थना करती रही। जब दिन एक पहर शेष रह गया तब उसे होश आया। उसकी आँखें खुशी से चमक उठीं। उसका बच्चा!...मोना की निशानी! धनिया ने उसे बगल में लिटा लिया और जब दीपक के प्रकाश में उसकी बड़ी-बड़ी अधखुली आँखों को देखा तो सन्न रह गई। भगवान ने उसकी प्रार्थना आखिर नहीं सुनी। क्यों नहीं सुनी? उसे सुनना चाहिए था। एक बार फिर धनिया की आँखों के आगे वह अन्धा लड़का और ढेर-से ताँबे के पैसे घूम गये। यहाँ दो का पेट भरना कठिन हो रहा है, तीसरे को भगवान ने और भेज दिया और वह भी इतना सुन्दर, इतना रूपवान कि कभी किसी की सहानुभूति का पात्र न बन सके। धनिया को अपने निश्चय की बात याद आई। उसे अपना निश्चय स्वयं पूरा करना होगा। वह अपनी सहायता आप करेगी। वह किसी तरह उठकर बैठी और तभी धनिया के हाथों के दोनों अंगूठों ने बच्चे की कोमल आँखों को ढक लिया। धनिया के हाथ काँप गये, लेकिन तभी उसके सामने वह अन्धा लड़का और ताँबे के पैसे फिर उभर आये, और इनके पीछे उसका निश्चय। धनिया ने दिल कड़ा किया और दोनों अंगूठों को अन्दर की ओर ज़ोर से दबा दिया। बच्चे ने ज़ोर से चीख मारी और और फिर बुरी तरह चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगा। धनिया के दोनों अंगूठे खून से भीग गए थे। धोती के पल्ले से उसने अपनी आँसूभरी आँखों को पोंछा और फिर बच्चे की आँखों को सहलाने लगी। रेनू हड़बड़ाकर उसी दम जाग उठी, "कौन है, माँ?"

हँसने का प्रयत्न करती हुई धनिया ने कहा, "उठ, देख भगवान ने तुझे छोटा भाई दिया है।"

"सच माँ ?" और रेनू वहाँ से उठकर माँ के पास आ बैठी। कुछ देर वह अपने रोते हुए भाई की ओर देखती रही और फिर बोली, "माँ, यह रो क्यों रहा है ?"

"भगवान के घर से आया है न हमारे पास, इसलिए घबरा कर रो रहा है।"

झोंपड़ी के बाहर दिन निकल रहा था। बस, थोड़ा अन्धकार शेष था और झोंपड़ी के अन्दर धनिया, रेनू और नवजात शिशु तीनों रो रहे थे। मिट्टी के बुझते दीपक की लौ और धनिया के हाथ अब भी काँप रहे थे।

एक ज़माना गुजर गया। कलियाँ खिलीं, फूल मुर्झाए, बहारें आईं और चली गईं। धनिया के काले बाल धीरे-धीरे सफेद होने लगे। रेनू ने जवानी में पैर रखा। अब धनिया ने वह झोंपड़ी छोड़ दी थी और मजदूरों की बस्ती में एक कच्चा मकान किराये पर ले लिया था। अपने पुत्र और रेनू के साथ वह जीवन के अन्तिम दिन काट रही थी। उसका निश्चय सचमुच ही सच हो रहा था। रेनू और सोना मिलकर इतना कमा लेते थे कि तीनों की रोटी का खर्च अच्छी तरह से चल जाता था। सोना ने कुछ भजन और फ़िल्मी गीत सीख लिये थे। गला उसका बचपन से ही सुरीला था। गाने के इस धंधे से सोना और रेनू को आशा से अधिक पैसे मिल जाते थे। अच्छी तरह खाने-पीने के बाद जो पैसे बचते थे, उन्हें धनिया जमा करती जाती थी। उसे गर्व था—मरते समय मोना ने जो कहा था, वह उसने पूरा कर दिखाया। मोना के मरने के बाद उसने अपनी

जवानी के न जाने कितने दिन काटे। वह जितनी पवित्र पहले थी, उतनी ही आज भी उसकी ओर कोई उंगली भी नहीं उठा सकता। पर एक रात जो घटना घटी उसने धनिया के गर्व और जीवन के सन्तोष को मिट्टी में मिला दिया।

रात के दस बज चुके थे। रेनू और सोना खा-पीकर जमीन पर दरी बिछा कर लेट गये थे। आकाश में तारे छिटके हुए थे और तेज़ हवा चल रह थी। दूर बादलों का दल उठता हुआ तारों-भरे आकाश पर फैलता जा रहा था। धनिया को नींद नहीं आ रही थी और वह उसी विकलता की अवस्था में दीवार के सहारे बैठी आसमान की ओर देख रही थी। तभी सोना उठकर उसके पास आ बैठा।

"माँ !"

"क्या है, बेटा ?"

"आज मन बड़ा बैचैन है।"

"क्या कुछ तकलीफ़ है ?"

"नहीं माँ, तकलीफ़ क्या होती ! मैं बहुत खुश हूँ। फिर भी मन में एक बात उठा करती है। डरता हूँ, कहीं तुम सुनकर व्यर्थ दुखी न हो उठो।"

"बता न, क्या बात है, सोना ? माँ से कोई बात नहीं छिपाया करते।"

"माँ, मैं सोचता हूँ—भगवान ने मेरे साथ अन्याय किया है। मुझे मनुष्य का शरीर दिया, तुम जैसी अच्छी माँ की कोख से जन्म हुआ, रेनू-सी सीधी बहन मिली, फिर मुझे आँखें क्यों न दीं ? मैंने कुछ भी तो नहीं देखा, न जाने यह दुनिया कैसी है ? तुम नहीं जानती माँ ! तुम्हें और रेनू को देखने के लिए मैं कितना बेचैन रहता हूँ।"

"सोना...!"

"हाँ माँ, यह आँखों की कमी मुझे हर घड़ी खटकती रहती है।"

"सोना, क्या तुझे बहुत दुख होता है ?"

"हाँ माँ, बहुत दुख होता है। कभी-कभी यह दुख इतना बढ़ जाता है कि सोचता हूँ इस जीवन का अन्त ही कर डालूँ। आँखों के बिना मैं आदमी होकर भी आदमी नहीं हूँ। माँ! मेरी आत्मा को भी चैन नहीं मिलता, वह हमेशा एक गहरे अँधेरे में भटकती रहती है।"

सोना चुप हो गया। ऊपर पूरे आसमान पर बादल छा चुके थे। धनिया आज एक बार फिर फफक-फफक कर रो उठी।

विकल-सा सोना बोला, "माँ, तुम रो रही हो। मैं कहता न था कि मेरी इस बात को सुनकर तुम्हारा दिल भर आएगा। इस तरह फूटफूट कर मेरे लिए न रो माँ! तुम्हें मेरी कसम चुप हो जाओ!"

"सोना तू नहीं जानता। यदि तुझे पता होता...

"क्या पता होता माँ?"

"यही, कि यह दुनिया ऐसी ही है।"

सोना आज्ञापालक-सा वहाँ से उठकर फिर दरी पर आ लेटा। उसकी आँख लग गई। पर बेचारी धनिया ..?

आज वह नहीं सो सकती। यह सोने का समय नहीं है, जागने का है। आँखों की कमी ने आज सोना को झकझोर डाला है, फिर धनिया कैसे सोये?

ऊपर आकाश पर बादल गरज रहे थे। चारों ओर घना-काला अन्धकार व्याप्त था। धनिया को लगा जैसे कोई उसके कानों के पास खड़ा चीख रहा है, "अरी धनिया, तूने ही अपने सोना की ज़िन्दगी बरबाद की है। तुझे नन्हे-से सोना की कोमल आँखें फोड़ते दया न आई? उसकी सुन्दर आँखों को अपने अंगूठों से दबाते हुए तेरा कलेजा फट न गया? माँ ने बेटे की आँखें फोड़ दीं, मुट्ठीभर ताँबे के टुकड़ों के लिए, पेट की आग बुझाने के लिए; और इतने पर भी धनिया, तू गर्व करती है कि तू माँ है, तेरा जीवन सफल हुआ, सार्थक हुआ?"

धनिया पागल-सी चीख उठी, "तुम कौन हो जो यह बातें जानते हो ? मेरे सामने क्यों नहीं आते ? मैंने पाप किया है तो मुझे सज़ा दो। मेरा गला दबा दो, मैं उफ़ तक न करूँगी। पर इस तरह ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाओ मत। सोना सो रहा है। कहीं उसकी आँख खुल गई तो ! आँख.. !"

रेनू और सोना गहरी नींद सो रहे थे। सुबह सबसे पहले सोना की आँख खुली। उसने पुकारा, "माँ, अभी उठी नहीं ?"

धनिया बोली नहीं। उसने फिर ज़ोर से आवाज़ दी, "माँ !"

धनिया सो रही थी। सोना ने रेनू को झकझोरा—"ओ रेनू, देख तो माँ कहाँ है ?"

"कौन, माँ ?"

"हाँ, जल्दी उठ मेरा दिल घबरा रहा है।"

रेनू ने उठकर देखा, माँ कहीं भी नहीं गई थी। वह दीवार की ओर मुख किये लेटी थी। रेनू पास गई और कन्धे से पकड़ कर बोली, "माँ, उठो न ! देखो कितना दिन निकल आया है।"

पर धनिया तो सोना की आँखों का रहस्य अपने साथ लिए सदा-सदा के लिए आँखें मूँद चुकी थी !

# विश्वास की नींव : अविश्वास की खाई !

महीने में तीन चार अवसर तो ऐसे पड़ ही जाते हैं जब कि मैं आधी रात के बाद घर आकर अपने कमरे का ताला खोलता हूँ। अकेला हूँ, चाहूँ तो रोज़ देर से घर लौट सकता हूँ। कोई कहने-सुनने वाला है नहीं, पर मैं स्वयं देर से लौटना पसन्द नहीं करता। ऐसा तो प्राय: उस दिन होता है, जिस दिन मैं पिक्चर देखने जाता हूँ और वह भी अंतिम शो। अंतिम शो में भीड़ कम होती है, लोग ऊँघते रहते हैं और इसीलिए हाल में अपेक्षाकृत अधिक शान्ति होती है, जिसे मैं पसन्द करता हूँ।

बात आज की भी है और एक महीना पुरानी भी। रात के बारह बज चुके थे। फिल्म देखने के बाद मैं घर के लिए एक रिक्शा पर सवार हुआ। मुझे दरयागंज पहुँचना था। वातावरण शान्त था और चारों ओर एक मृदु शीतलता सी छाई हुई थी। ऊपर तारों भरे आसमान पर चाँद चमक रहा था। मैं मन ही मन एक फिल्मी गीत गुनगुना रहा था और रिक्शा तेज़ी से दौड़ रहा था। कोई पन्द्रह मिनट में ही रिक्शा फ़ैज़ बाजार के चौराहे पर आ पहुँचा। मैंने रिक्शा रोकने को कहा और उतर पड़ा। दस रुपये का नोट निकाल मैंने रिक्शा वाले को दिया।

"बाबूजी, मेरे पास पैसे तो हैं नहीं !"

"सारा दिन बीत गया और तेरे पास दस रुपये जमा नहीं हुए ?"

"सच, बाबूजी ! होते तो दे देता। कहो तो आगे दिल्ली गेट के पास शायद एक दुकान खुली हुई है, वहाँ से तुड़ा लाऊँ।"

"अच्छा जा, जल्दी कर।" और कोई उपाय न देखते हु मैंने कहा।

वह आगे बढ़ा। मैंने फिर आवाज दी, 'सुनो, तुम्हारे रिक्शे का नम्बर क्या है ?"

"दो हजार तीन सौ दस !"

रिक्शा चला गया। मेरे मन ने अपनी इस सतर्कता पर शाबाशी दी। ठीक तो है, भला इन लोगों का क्या विश्वास ? दस का नोट लेकर उधर ही उधर गायब हो जाता तो ? रात का समय, खुद बेवकूफ बना कहाँ खोजता उसे ? अच्छा ही किया, जो नम्बर पूछ लिया।

रिक्शा अब मेरी आँखों से ओझल हो गया था। शायद वह अब भी न लौटे। क्या पता उसने नम्बर भी ठीक बतलाया या गलत ? काफी दूर तो जा चुका था तब वह ?—मैं खड़ा सोचता रहा; पर थोड़ी देर बाद ही वह मेरे सम्मुख आ खड़ा हुआ और नौ रुपये आठ आने मेरे हाथ पर रख कर आगे बढ़ गया।

नोट और पैसे सब ठीक थे। मैं घर की तरफ चल पड़ा। अब तक जो मन मुझे मेरी सतर्कता पर शाबाशी दे रहा था, उसके विरोध में आत्मा की गहराइयों से एक आवाज़ आई—तुम्हारा हृदय कितना कलुषित है ? कुछ रुपयों के लिए तुम ने एक आदमी पर व्यर्थ ही अविश्वास किया ! वह गरीब था, रिक्शे वाला था, इसलिए न ? यह तुम्हारी कितनी भूल है ? सोचो, क्या ऐसा व्यवहार तुम्हारे लिए उचित था ?

बात आई-गई हो गई। मैं इस घटना को बिल्कुल भूल चुका था कि आज फिर, अभी कोई एक घंटा पूर्व एक दूसरे रिक्शावाले से सामना हो गया। आज भी मेरी जेब में पैसे नहीं थे और पाँच का

नोट मुझे उसे भुना लाने के लिए देना पड़ा। नोट देते समय पिछली घटना का चित्र अचानक मेरी आँखों के आगे खिच गया और आत्मा के प्रबल अनुरोध-स्वरूप मैंने जाते समय उस रिक्शा वाले से नम्बर न पूछा।

रिक्शा उस दिन की तरह मेरी आँखों से ओझल हो गया। लगभग एक घंटे तक मैंने प्रतीक्षा की, पर वह नहीं लौटा। और अब वह लौटेगा भी नहीं, यह देख-सोच कर हारे हुए जुआरी की तरह अपने कमरे में आकर यह घटना लिख रहा हूँ।

मेरे हृदय पर आज एक गहरी चोट लगी है। चोट इसलिए नहीं कि मैं अपने पाँच रुपये खो बैठा वरन केवल इसलिए कि अब मैं एक अच्छी बात को अपने जीवन का सिद्धान्त न बना सकूंगा।

●●

# अच्छा, तो यह बात थी !

मुन्ना दिन-दिन बड़ा होने लगा तो उसकी शरारतें भी गर्मियों के दिन की तरह बढ़ने लगीं। वह नित्य कोई न कोई ऐसा नुकसान कर बैठता जिसे शीला लाख प्रयत्न करने पर भी अपने पति शैलेन्द्र से छिपा न पाती। इधर शैलेन्द्र की यह हालत थी कि जैसे ही किसी नुकसान या किसी वस्तु के टूट-फूट जाने का पता चलता, फ़ौरन ही—बिना कुछ सोचे-समझे आग-बबूला हो उठता। शाम को दफ़्तर से आने के बाद प्रायः रोज़ मुन्ने को पीटा जाता, शीला को डाँट सहनी पड़ती, सो अलग। शीला जिस दिन इस प्रयत्न में रहती कि टूटने-फूटने वाली चीजें मुन्ने की पहुँच से बाहर रहें, उसी दिन वह कोई ऐसी चीज तोड़ डालता, जिसके बारे में यह कभी सोचा ही नहीं जा सकता था कि मुन्ना उसे छुएगा भी। आखिर शीला भी क्या करे? गृहस्थी का सारा भार उसके ऊपर है। बाज़ार से सब्जी लाने से लेकर घर का सारा काम उसे ही करना पड़ता है।

पति सुबह आठ बजे सोकर उठते हैं और शाम को दिन छिपे से पूर्व घर नहीं लौटते। कई बार उसने कहा

कि थोड़े दिनों के लिए कोई नौकर ही रख लो तो बार-बार यही उत्तर मिला—किसी ऐरे-गैरे को रख कर क्या मुसीबतें मोल लेनी हैं ? कई बार शीला ने पति को समझाया भी—देखो, वह बच्चा है। यदि मैं हर समय उसे गोद में लिये बैठी रहूँ तो घर का काम कौन आकर करेगा ? कभी-कभी काम में मुझे इस बुरी तरह जुटना पड़ता है कि मुन्ने का ध्यान ही नहीं रहता कि वह क्या कर रहा है ? कोई हमेशा वह ऐसी तोड़-फोड़ थोड़े ही करता रहेगा। कुछ दिनों बाद अपने आप ही आदत छोड़ देगा। लेकिन इस समझाने का कोई असर न होता। हाँ, इतना अवश्य होता कि एक दो दिन मुन्ने को पीटना बन्द हो जाता, शीला को जरा कम डाँटा जाता ; लेकिन उसके बाद फिर वही क्रम शुरू हो जाता—तुम फूहड़ हो, तुम जानती नहीं कि बच्चों को किस प्रकार रखा जाता है, यह सब नुकसान केवल तुम्हारे आलस्य और असावधानी के कारण होते हैं—सुनते-सुनते शीला तंग आ गई थी। यह बात नहीं कि उसे पति का स्नेह नहीं मिलता था। उसे खाने-पीने की भी कोई कमी नहीं थी। कहीं भी जाकर सगे सम्बन्धियों से यदा-कदा मिल आने की उसे खुली आज़ादी थी ; लेकिन फिर भी जब उसे मुन्ने की शरारतों से हुए नुकसान के लिए व्यर्थ ही दोषी ठहराया जाता तो वह झुंझला उठती, उसका हृदय विदीर्ण हो कर रह जाता।

उस दिन पति के दफ्तर जाने के बाद शीला ने किसी तरह कच्ची-पक्की रोटियाँ सेकीं और उन्हें कटोरदान में दबाकर रख दिया। मुन्ने को गोद में लिये हुए ही उसने कमरे में बुहारी लगायी और उसके बाद फर्श को गीले कपड़े से साफ किया। अब उसे स्नान करना था, अत: गुसलखाने में जाने से पूर्व उसने कमरे में नजर दौड़ाई कि कहीं कोई ऐसी चीज तो नहीं रह गई है जिसे मुन्ना अपना खेल बना डाले। पूरी तरह तसल्ली कर उसने नीचे फर्श पर चटाई बिछाकर मुन्ने को बैठा दिया और स्वयं स्नान करने चली गई। अभी पूरी तरह नहा

भी न सकी थी कि कमरे में कुछ गिरने तथा मुन्ने के चीख-चीख कर रोने का स्वर सुनाई दिया। गीले बदन पर उल्टे सीधे कपड़े लपेट कर वह दौड़ी आई तो देखा कि ऊपर रैक पर रखा बड़ा शीशा फर्श पर टूटा पड़ा है, और मुन्ने के सर से खून बह रहा है। देखते ही वह एक बार तो काँप उठी। डिटोल की पट्टी उसके सर से बाँध काफी देर तक वह मुन्ने को गोद में लिए हिलाती-डुलाती रही, तब कहीं जाकर वह सोया।

एक बज गया था। भूख से पेट कुल-बुलाने लगा तो ध्यान आया कि अभी खाना तो खाया ही नहीं। शीला के हाथ थाली से मुँह की तरफ चल रहे थे लेकिन वह बार-बार यही सोच रही थी कि आज शाम को न जाने क्या-क्या सुनना पड़ेगा? हो सकता है वे क्रोध में फिर मुन्ने को पीट बैठें। छिपाना भी चाहे तो भला इस नुकसान को कैसे छिपा सकती है? इसी सोच-विचार में शाम हो गयी, दिन छिप गया। मुन्ने को गोद में लिए शीला खाना बना रही थी कि पति के आने की आहट सुनाई दी। शीला ने डर के मारे मुँह ऊपर उठा कर देखा भी नहीं। न जाने आज क्या होने वाला है? शीला ने रसोई में बैठे-बैठे अन्दाज़ लगाया कि अब वे कपड़े बदल चुके हैं, वह स्वर में माधुर्य घोलकर बोली, "आ जाओ जी, तैयार है।"

"कुछ खास चीजें बनायी हैं क्या?" शैलेन्द्र ने रसोई में प्रवेश करते हुए पूछा।

"नहीं तो, खास कुछ भी नहीं है पर आपके लिए आलू-मटर भरे पराँठे जरूर बनाये हैं।"

शीला ने आसन बिछा दिया। मुन्ने के सर में पट्टी बँधी देख शैलेन्द्र ने सहसा पूछा, "यह क्या हुआ?"

शीला ने किसी तरह डरते-डरते उत्तर दिया, "ज़रा चोट लग गई इसे।"

"वह तो दीख ही रहा है; पर लगी कैसे, क्या लगा?"

शीला ने सोचा जो होना है वह तो होगा ही। झूठ बोलना व्यर्थ है। बोली, "मुन्ने ने बड़ा शीशा सर पर गिरा लिया, काँच लग गया।"

जैसे एक बड़ा भारी विस्फोट हो गया। शैलेन्द्र बोला, "कर दिया न पन्द्रह-बीस रुपये का नुकसान! सर में चोट लगी सो अलग। तुम एक जरा से बच्चे का ख्याल नहीं रख सकतीं! महारानी जी उस समय पड़ी आराम फरमा रही होंगी?"

"आप तो हमेशा ही ऐसा कहते रहते हैं। आराम करना मेरे भाग्य में है ही कहाँ? बस, जरा नहाने गई कि शीशा तोड़ डाला।"

"तो उसे और कहीं सँभाल कर नहीं रख सकती थीं?" शैलेन्द्र ने ऊँचे स्वर में चिल्लाते हुए कहा।

"छोटी-मोटी चीजें तो उठाकर इधर-उधर रखी भी जा सकती हैं। कहीं ऐसी चीजें भी रोज-रोज धरी-उठायी जातीं हैं? और शीशा कौन-सा नीचे था, इतने ऊँचे पर तो रखा था!" गीले से स्वर में शीला बोली।

"तुम हमेशा ऐसे ही कह देती हो, शीला! पर अपनी असावधानी कभी महसूस नहीं करती। मैं तो फिर कहूँगा कि इस घर में जो भी नुकसान होता है उस सब के लिए केवल तुम जिम्मेदार हो।"

शीला की आँखें छलछला आयीं "हाँ, मैं ही बुरी हूँ। मुझ में ही खोट है। मैं ही सारे दिन चारपाई पर पड़ी चैन की बंसी बजाती रहती हूँ। मेरे कारण ही आपके घर में आये दिन नुकसान होते रहते हैं, बस या और कुछ?" उसका हृदय तिलमिला उठा।

शीला बहुत कुछ कहना चाहती थी लेकिन अब उसने मौन रहना ही उचित समझा। थाली परोस कर शैलेन्द्र के आगे रखी और धोती के पँल्ले से अपनी गीली आँखें पोंछ कर पराँठे बेलने लगी।

आज रविवार था और भाग्य से शैलेन्द्र घर पर ही था। नहा-धोकर शीला ने मेकअप किया, जार्जेट की धानी रंग की साड़ी बड़ी सावधानी से पहनी और पैरों में स्लीपर डालते हुए वह शैलेन्द्र से बोली, "मैं आज कनक के घर जा रही हूँ और वहाँ से ही 'जागृति' फिल्म देखने का विचार है। दो बजे तक ज़रूर आ जाऊँगी।"

"तो जाओ मैं रोक थोड़े ही रहा हूँ। मेरी बला से, चाहे रात को घर लौटना, लेकिन खाना..."

"खाना बना दिया है। रसोई में रखा है। अच्छा, तो मैं जाऊँ?" चलने का उपक्रम करते हुए शीला ने कहा।

"क्या मुन्ने को नहीं ले जा रही हो?"

"नहीं, वहाँ हॉल में तंग करेगा और फिर तीन चार घण्टे की तो बात है।"

"मुन्ने को न ले जाने का एक कारण और भी है, और वह यह कि तुम्हारी कनक लता कुमारी हैं, उनके साथ अपनी गोद में मुन्ने को बैठा कर पिक्चर देखने में शायद तुम्हें शर्म आये!"

"यह आपसे किसने कहा? आप भी क्या बे-सिर-पैर की उड़ाते हैं! अच्छा तो मैं चलूँ?"

"जाओ!"

शाम को घर लौटी तो देखा—वे मुन्ने को गोद में लिए टहल रहे हैं।

"तुम तो दोपहर को आने को कह गयी थीं और अब आयी हो?"

"क्या बताऊँ, आज कनक ने आने ही नहीं दिया। उससे बहुत कहा कि मान जाओ, जाने दो, तुम्हारे जीजाजी मुझ पर बहुत नाराज़ होंगे, पर उसने मेरी एक न सुनी।"

"ख़ैर, कोई बात नहीं, लेकिन जल्दी से कपड़े बदल कर इसे सँभालो। यह मुन्ना तो आज सारे दिन मेरी गोद से उतरा ही नहीं। सारा दिन ख़राब हो गया। कहीं भी आ-जा न सका। मैं अब ज़रा मित्रा बाबू के यहाँ जाऊँगा। वहाँ से यही कोई आध घंटे में लौट आऊँगा।"

कपड़े बदल कर शीला ने मुन्ने को लिया और चारपाई पर लिटा दिया। अँधेरा हो गया था। पहले लैम्प जलाकर मेज पर रख दिया फिर साड़ी की तह कर उसे ट्रंक में रख रही थी कि मुन्ना जाग गया। ट्रंक बन्दकर उसने मुन्ने को फिर गोद में उठा लिया और एक पत्रिका लेकर मेज़ के पास कुर्सी पर आ बैठी। मुन्ना गोद से उतरने के लिए हाथ पैर मार रहा था। शीला ने उसे नीचे उतार दिया और तभी इससे पहले कि शीला सँभाले, मुन्ने ने मेज़पोश पकड़ कर खींच लिया और लैम्प फर्श पर गिर गया!

कमरे में घुप अँधेरा छा गया। पत्रिका को मेज़ पर पटक कर शीला झुँझलायी, "कम्बख़्त को एक पल भी चैन नहीं।"

घर में दूसरा लैम्प भी नहीं था जो जला देती। एक बार सोचा भी कि ताला लगा कर जल्दी-जल्दी बाजार से दूसरी चिमनी ख़रीद लाये पर फिर सोचा कि कहीं इसी बीच वे मित्रा बाबू के यहाँ से लौट आये तो? आते ही वे फिर नाराज होंगे। सारा दिन एक तो वैसे ही उन्हें घर पर बैठाये रखा और घण्टा भर मुझे यहाँ आये हुआ नहीं कि मुन्ने ने यह परेशानी पैदा कर डाली। शीला इसी सोच-विचार में बैठी थी कि शैलेन्द्र की आश्चर्यभरी आवाज़ सुनाई दी, "शीला, क्या सो गयीं? अभी तो आठ ही बजे हैं!"

"सोयी कहाँ हूँ, बैठी तो हूँ।" शीला ने घबड़ाये-से स्वर में उत्तर दिया।

"फिर अँधेरा क्यों कर रखा है? लैम्प क्यों बुझा दिया?"

"मुझे माफ़ कर दो। आप शायद ठीक ही कहते हैं। शायद मेरी ही असावधानी से इस घर में नुकसान होते हैं। मैं सचमुच फूहड़ हूँ। मैं नहीं जानती कि बच्चों को किस तरह सँभाल कर रखना चाहिए।" शीला ने रुआँसी होकर कहा।

"क्या हुआ, कुछ बताओ भी तो ?"

"मुन्ने ने अभी लैम्प नीचे गिरा दिया।"

"कोई बात नहीं। मैं अभी बाज़ार से दूसरी चिमनी लेकर आता हूँ।"

डाँट और क्रोध भरी झिड़कियों के स्थान पर ये शब्द सुनकर शीला अवाक् रह गयी। वह मन ही मन अपने को कोसने लगी। ऐसे देवता-स्वरूप पति को वह आज तक कितना गलत समझी थी ! लेकिन फिर भी उसे लगा कि आज कुछ नई बात ज़रूर है। उसके पति के स्वभाव में यह परिवर्तन आज पहली बार आया है। लेकिन क्यों, कैसे ? काफ़ी देर तक सोचने पर भी वह इस गुत्थी को सुलझा न पायी। बात बढ़ने के भय से पूछा भी नहीं।

फिर आया वही प्रातःकाल। शीला उठी। नियमानुसार खाना बनाया। शैलेन्द्र खा-पी कर दफ़्तर चला गया। शीला यन्त्र-चालित-सी नित्य के कामों को पूरा करने में लगी हुई थी लेकिन उसका मन केवल एक ही बात सोच रहा था—आखिर पति के स्वभाव में यह अचानक परिवर्तन आया कैसे ? खाना बनाकर शीला कमरा साफ़ करने लगी तो सहसा वह गुत्थी सुलझ गई। वह पूरे वेग से हँस पड़ी। चारपाई के नीचे कुछ चीजें पड़ी हुई थी, जिनको वह कल संध्या-समय लौटने पर देख न सकी थी। शीला ने देखा—नये टी सेट के दो प्यालों के टूटे हुए टुकड़े, स्याही में सराबोर मुन्ने की कमीज़ और अंग्रेजी के शब्दकोष के फटे हुए कुछ पन्ने !

## वह बच्चा !

मुझे बच्चे बहुत प्यारे लगते हैं। गोरे-गोरे शरीर वाले छोटे-छोटे बच्चों को मैं जब कभी किसी के साथ देखता हूँ तो उन्हें गोद में भर कर प्यार करने को हृदय मचल उठता है।

मुझे बच्चे इतने प्यारे लगते हैं इसका एक कारण है ; और वह यह कि मैं विवाहित होते हुए भी सन्तान सुख से सदा वंचित ही रहा। विवाह के पश्चात् वर्षों इन्तज़ार करने के बाद भी किसी बच्चे को गोद में खिलाने की लालसा, लालसा ही बनी रही तो मैं स्वतः बच्चों की ओर झुक गया। एक बार जो यह लालसा आरम्भ हुई तो अब समाप्त होने को नहीं आ रही और लगता है जीवन पर्यन्त यह भूख कभी शान्त न हो सकेगी। एक माँ भी अपने बच्चे को इतना प्यार नहीं कर सकती जितना कि मैं, ऐसा मेरा विश्वास था। लेकिन मेरे इस विश्वास की नींव कितनी कच्ची थी, यह एक दिन अनायास मुझे ज्ञात हुआ। उसी दिन की बात मैं यहाँ कहने जा रहा हूँ। वह एक दिन, जब मैं आश्चर्य से अवाक् रह गया...

कानपुर जा रहा था। गाड़ी प्लेटफार्म छोड़ चुकी थी

और उसकी गति में प्रतिपल तीव्रता आती जा रही थी। सूटकेस को ऊपर बर्थ पर रख कर मैं सीट पर बैठा हुआ था। डिब्बे में अधिक भीड़ न थी, फिर भी कुल मिला कर दस बारह यात्री तो होंगे ही। उनमें स्त्रियाँ थीं, पुरुष भी थे और था एक छोटा बच्चा, केवल एक बच्चा! मेरे सामने वाली बर्थ पर एक अधेड़ उम्र के दम्पति बैठे थे। वे सज्जन बाहर की ओर देख रहे थे और उनकी पत्नी, गोद में बच्चे को लिए मेरी तरफ़ से ज़रा घूम कर बैठी हुई थी।

बच्चे को उसकी माँ ने भूरे रंग के एक शॉल से ऊपर मुँह तक ढका हुआ था। उसके पैर में छोटे-छोटे नीले गर्म मौज़े थे। एक पैर का मौज़ा एड़ी पर से थोड़ा फटा हुआ था, जिसके अन्दर से मैं हल्की लालिमा लिए उस बच्चे की कोमल एड़ी स्पष्ट देख रहा था। पैर के उस छोटे से भाग को देखकर उस बच्चे के नितान्त सुन्दर होने का मुझे विश्वास हो गया। बच्चा बिल्कुल चुपचाप लेटा था। ज़रा भी हरकत नहीं हो रही थी और ऐसा लगता था कि या तो वह गहरी नींद सोया हुआ है, या फिर बीमार है।

यह सब देखने के बाद मुझे मन ही मन बड़ा अफ़सोस हुआ। मेरे भाग्य से उस डिब्बे में केवल एक बच्चा था और वह भी मीठी नींद में निमग्न! इससे तो अच्छा होता मैं किसी ऐसे डिब्बे में बैठता, जिसमें बहुत से छोटे-छोटे बच्चे होते, जिनके साथ घुलमिल कर, गोद में लेकर प्यार करने की साध पूरी होती और मेरा सफ़र मज़े में कट जाता।

मैंने जेब में हाथ डाला और तभी जेब में पड़ी टाफियाँ मेरी उंगलियों से छू गईं। घर से चलते समय ये टाफियाँ मैंने किसी बच्चे को देने के अभिप्राय से ही खरीदी थीं, पर अब क्या हो सकता था? मैंने उसी पल अपना हाथ जेब से बाहर निकाल लिया। हार कर मैंने अपना ध्यान खिड़की के बाहर कुछ देखने में लगा लेना चाहा पर कुछ अधिक सफल न हो सका। उस समय मेरे आकुल हृदय में बस एक बात उठ रही थी कि किसी तरह यह बच्चा जाग उठे और फिर मैं

उसके पिता से आज्ञा लेकर उसे अपनी गोद में ले लूँ। पर वह बच्चा तो जैसे घोड़े बेच कर, मेरे वहाँ रहते-रहते, कभी न उठने का संकल्प कर के सोया था। उसी समय मुझे अपनी इस इच्छा को पूरी करने के लिये एक उपाय सूझा और मैंने अपनी ओर से प्रयत्न आरम्भ भी कर दिया।

"आप कहाँ जा रहे हैं?"

"प्रयाग!" उन सज्जन ने मेरी ओर देखते हुए उत्तर दिया।

"आपका शुभ नाम जान सकता हूँ?"

"जी, मेरा नाम भुवनेश्वर है, कहिये?"

"ऐसे ही पूछ रहा था। वास्तव में बात यह है कि मेरी आपसे एक विनय है। निश्चय जानिये, मैं अपने को रोक सकने में बिल्कुल असमर्थ पा कर ही आपसे कुछ कहना चाहता हूँ।"

"कहिये न, आपको क्या कहना है?"

मैंने देखा, उनकी पत्नी अब मुझे अपनी फटी-फटी आँखों से, बड़े विचित्र ढंग से देख रही थी। एक क्षण को मैं रुका और तभी हृदय का समस्त साहस एकत्रित कर बोला, "क्या आप कुछ देर के लिये अपने इस सोते हुए बच्चे को मुझे दे सकते हैं? मुझे बच्चों से बहुत स्नेह है और मैं आप के इस बच्चे को अपनी गोद में लेने के लिये बड़ी देर से बेचैन हो रहा हूँ। आपको मेरे इस विचित्र व्यवहार और इच्छा पर आश्चर्य तो अवश्य होगा लेकिन सच जानिये, मैं अपने को रोक नहीं पा रहा हूँ।"

मैंने उसी समय अपने हाथ आगे बढ़ा दिये। उन सज्जन ने अपनी पत्नी की ओर देखा। अब उनकी पत्नी अपने पति की ओर बड़ी व्याकुल दृष्टि से देख रही थी। पति की आँखों में विवशता और उलझन में फँस जाने के से भाव थे। पत्नी ने अब अपनी गोद में सोये बच्चे को अपने सीने से चिपटा लिया था और मुझे ऐसा लगा कि वह शायद जीते जी अपने उस हृदय के टुकड़े को कभी अपने से अलग न कर सकेगी।

कुछ देर मेरे हाथ बच्चे के लिये बढ़े रहे और फिर वे पराजित से स्वयं लौट आये।

मैंने उन सज्जन की ओर देखा। मुझे लगा जैसे वे मुझ से कुछ कहना चाहते हों पर प्रयत्न करने पर भी कह नहीं पा रहे हों।

टूँडला जंकशन आ गया था। मैं अपनी सीट से उठा और नीचे प्लेटफ़ार्म पर उतर आया।

ठंडी हवा चल रही थी। मैंने अपने दोनों हाथ जेब में डाल लिये, तभी एक बार फिर जेब में पड़ी टाफियाँ मेरी उंगलियों से छू गईं। कितना शीतल था यह स्पर्श!

पीछे से किसी ने कन्धे पर हाथ रखा। पलट कर देखा, वही सज्जन थे। इससे पहले कि मैं कुछ समझूं या कहूँ, मैंने सुना वह कह रहे थे, "गाड़ी में शायद आपने हमारी बात का बुरा माना। क्या करें हम! बच्चे को गोद में लेने की आपकी जो साध थी, वह हम पूरी न कर सके, हम बहुत अभागे हैं। आपकी यह साध तो कहीं भी पूरी हो सकती है, पर हम दोनों की यह साध आज तक पूरी नहीं हुई और न भविष्य में ही कोई आशा है। मेरी पत्नी की गोद में जीता जागता बच्चा नहीं बल्कि एक बड़ी गुड़िया है, जिसे वह हमेशा इसी तरह अपने साथ रखती है। वह अपनी यह साध पूरी करने में पूरी तरह खोई रहती है; इसीलिये हमें आपको निराश करना पड़ा। गाड़ी में यदि आपको यह सब बताता तो निश्चय जानिये—मेरी पत्नी रो पड़ती और उसके बाद उस पर ऐसी उदासी छा जाती जो हफ्तों दूर न होती।"

मैं हक्का-बक्का रह गया। वापस डिब्बे में लौट आया। गाड़ी पहले की तरह फिर चल पड़ी। स्टेशन के बाद स्टेशन निकले चले गये। पर फिर मेरा साहस न हुआ कि उस ममता की देवी से दृष्टि मिला सकता।

मेरे कानों में कोई चिल्ला-चिल्ला कह रहा था, 'तुम बच्चों से प्यार करना क्या जानो? तुम बच्चों से प्यार करना क्या जानो?' ●●

## वन्तो की कहानी : असलम का दर्द !

मेरे एक मित्र हैं—अनिल। यह उनका साहित्यिक नाम है। मेरे कहने का मतलब है कि जो भूल उनके पिता और नामकरण संस्कार सम्पन्न कराने वाले पंडित जी ने अनजाने कर दी थी, उसे मेरे मित्र ने सुधार लिया है। वास्तव में उनका नाम क्या था, यह मैं यहाँ लिख कर बेकार में अपने मित्र की हँसी नहीं उड़ाना चाहता। मुझे विश्वास है कि यदि आप इस साहित्यिक से परिचित हैं, उसकी कविताओं और गद्य गीतों को आपने पढ़ा है, तो आप अवश्य ही उसके प्रशंसक होंगे। खैर, वे एक मासिक पत्र के सम्पादकीय विभाग से सम्बद्ध हैं। हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में इस पत्र का प्रमुख स्थान है।

हाँ, तो उस दिन बीस तारीख थी और था वर्ष का अन्तिम मास। पत्र का नव-वर्षांक निकलने वाला था। वैसे तो मैं प्रति मास स्वयं ही उनके पास कहानी भेज दिया करता था पर उस महीने घर गृहस्थी के कार्यों में कुछ ऐसा व्यस्त रहा कि कहानी भेजना तो रहा दूर, मैं यह भी भूल गया कि हमारा कोई सम्पादक मित्र है, जो हर महीने बिना कुछ आगा-पीछा किये कहानी प्रकाशित

करता है। सचमुच ही कल्पना की कहानियों से निकल कर मैं उस महीने स्वयं अपने जीवन की कहानी में बुरी तरह उलझ गया था।

इतना सब होने पर भी मैं यह सोच कर कि कल तक किसी न किसी तरह कुछ लिखकर भेजना ही पड़ेगा, रात को अकेले कमरे में कागज पैंसिल लेकर बैठ गया। मन के अन्दर जो एक धारणा अति का रूप लेकर समा गई थी और इस निश्चय के प्रवाह में कि लिखना अवश्य है, मैंने पूरे दो पृष्ठ लिख डाले। तभी नन्हा रवि कुछ ऐसा रोया कि मानो उसे मेरी पत्नी ने ज़ोर से चपत मारी हो। मैं उठकर अन्दर दौड़ा तो पता लगा, सोते से वह नीचे गिर गया था फ़र्श पर! मैं लौट कर फिर कुर्सी पर आ बैठा। पैंसिल और खाली कागज हाथ में लिया और मन ही मन कहा 'लिखो बेटा!' हाँ, लिखना ही है—मन ने गवाही दी। रवि चुप हो गया था। मुझे अब केवल उसकी सिसकियाँ सुनायी दे रही थीं और इधर मस्तिष्क खाली हो रहा था, जैसे कुछ लिखने को है ही नहीं। लिखूँ तो क्या लिखूँ?

और फिर क्या हुआ? मैं आपको कैसे बताऊँ? आप हँसेंगे। मेज़ पर मसल कर फेंके हुए कागजों का ढेर लग गया। सिर के बाल आगे को बिखर आये और उस दिसम्बर की बीस तारीख को जब मैंने उन बालों को पीछे करने के लिए हाथ माथे पर रखा, तो हाथ पसीने से भीग गया। झुंझलाहट बढ़ी और उन तीन घण्टों में लिखे दो पृष्ठों के भी मैंने टुकड़े-टुकड़े कर डाले और वे मेरे चारों ओर बिखर गये। सफ़ेद छोटे टुकड़े, जैसे वे सब मिल कर मुझ पर हँस रहे हों।

शायद तबीयत ठीक नहीं है, और फिर यह भी तो आवश्यक नहीं कि हर महीने पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखा ही जाय। भई, यह तो मूड की बात है। मैंने अपने आप सोचा और मन को एक सन्तोष सा अनुभव करा, उठ खड़ा हुआ।

घर में सब सो गये थे, यहाँ तक कि पतिव्रता संध्या भी। ठीक ही तो है, मेरे लिए व्यर्थ इतनी देर तक जागने की आवश्यकता क्या थी, आवश्यकता होनी भी नहीं चाहिए। मैंने देखा वह आराम से आँख बन्द किये पलंग पर लेटी थी। मैं भी धीरे से एक ओर को लेट गया। अभी कम्बल ऊपर ले ही रहा था कि सुनायी पड़ा—

"आज तो बहुत देर करदी, क्या कर रहे थे?"

मैं चुप रहा।

"समझी! कोई कहानी लिखी होगी। क्यों, ठीक है न?"

अब यह ठीक न था कि मैं अधिक देर चुप रहता, क्योंकि वह करवट ले चुकी थी।

"अब सोने भी दोगी या नहीं? दिमाग़ थक गया है, आँखों में नींद भरी है और तुम हो कि…"

"अच्छा, न बताओ। मैं सुबह जल्दी उठ कर स्वयं देख लूँगी।"

वह निश्चिन्त हो गई और मुझे दुविधा में डाल स्वयं सो गई। मैंने सोचा—सो जाऊँ, पर आँखों में नींद होती, तब न! तभी बाहर दरवाजे पर किसी ने आवाज़ पर आवाज़ देनी शुरू की।

"बाबू जी, ओ बाबू जी!"

मैंने वहीं से बिना उठे ज़ोर से पूछा, "कौन है?"

"मैं हूँ असलम। अभी ड्यूटी से आ रहा हूँ। बड़ा ज़रूरी काम है, बाबू जी।"

मैं समझ गया उसका ज़रूरी काम। पट्ठा समय-असमय का बिलकुल ख्याल नहीं करता। जब ज़रा सी बात हुई, लगा दिमाग़ चाटने। चला आता है पैसे माँगने। सोचा, टालना चाहिए।

"अरे ड्राइवर साहब, सुबह आना!"

"नहीं बाबू जी! मेरा दिल घबरा रहा है, सच कहूँ, थोड़ी देर को किवाड़ खोल दो। बस पाँच मिनट की बात है।"

कुछ देर वह खड़ा रहा और फिर चला गया। मैं खूब सोया लम्बी तान कर।

सुबह उठा तो देखा वे सिरहाने खड़ी थीं।

"बस !" कहकर वे एक ऐसा भाव मुख पर लायीं, जो मुझे सब होनी-अनहोनी समझा गया। वे अपने मन की कर चुकी थीं और अब आई थीं मेरी हँसी उड़ाने। मैं लाख प्रयत्न करने पर भी उनकी मुस्कराती आँखों से आँखें न मिला सका। उठकर मेज़ के पास पहुँचा। कहानी की खोज में उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रखी थी, पर उसका कोई अस्तित्व होता तो मिलती। यह पहला अवसर था जब मेरी पत्नी को पता चला कि पूरी एक रात प्रयत्न करने पर भी उसके साहित्यिक पति एक कहानी नहीं लिख सके। कोई साधारण बात तो थी नहीं, पर क्या किया जाय ? मैं फिर धर्म से उसी मनहूस कुर्सी पर बैठ गया।

अभी एक से और सामना होना था और वह था असलम-इंजिन ड्राइवर। मुझे अधिक देर राह नहीं देखनी पड़ी। कुछ ही क्षण बाद वह मेरे सामने था।

उसके कुछ कहने से पहले ही मैं बोल उठा, "सुना भई, रात ऐसी क्या बात थी ? और इतना तो ख्याल किया कर, रात के बारह बजे किसी का दरवाजा इस तरह खटखटाया करते हैं ?"

"मैंने सोचा आप जरूर जाग रहे होंगे, अफ़साना लिखते हो न, बाबू जी......कहते-कहते वह रुक गया। मुझे लगा, जैसे कोई बात उसके गले में अटक रही हो।

वह फिर जैसे साहस करके बोला—

"बाबू जी, वह लड़की रेल के नीचे आ गयी।"

"कौन ?"

"वन्तो ! बड़ी प्यारी बच्ची थी बाबू जी ! आप तो जानते ही हो कि शाहदरे का पानी ठीक नहीं है, सिर धोएं, तो बाल चिपक

कर रह जाते हैं। इस लिए हर रोज़ जब स्टेशन पर गाड़ी रुकती है, आस पास की लड़कियाँ अपनी बाल्टी लेकर इंजन से पानी लेने आ जाती हैं। आज मैं सहारनपुर से आ रहा था, चार वाली ट्रेन लेकर। इंजिन रुका तो और लड़कियाँ, जो पहले से वहाँ खड़ी थीं कहने लगीं, "इंजिन का पाइप खोल दो।" पर मेरी आँखें तो वन्तो को तलाश कर रही थीं। पता नहीं आज वह अब तक क्यों नहीं आयी थी, नहीं तो रोज़ इस गाड़ी के वक्त बिला नाग़ा आया करती थी। उसके कहने पर ही मैं इंजिन के नीचे वाला पाइप खोला करता था और सबसे पहले वह ही अपनी बाल्टी भरा करती थी। बड़ी मासूम बच्ची थी, बाबू जी!"

असलम एक क्षण को रुका। मैंने देखा—कई आँसू उसकी देर से छलछलाती हुई आँखों से नीचे जमीन पर टपक कर फैल गये। वह फिर कहने लगा, "एक मिनट गुज़र गया। मैंने पाइप खोल दिया। लड़कियाँ पानी भरने लगीं पर मेरा मन तो वह मीठी आवाज़ सुनने के लिए बैचेन हो रहा था। सिगनल डाउन हो गया। इंजिन स्टार्ट करने में सिर्फ़ दो मिनट बाकी रह गये थे। मैं उधर देख रहा था जहाँ से रोज़ वन्तो आया करती थी। दूर वह मुझे दिखायी दी। अपने नन्हे पैरों से वह बेतहाशा भागी आ रही थी। मैंने सोचा यह और तेज़ी से क्यों नहीं दौड़ती पर वह तो बच्ची थी, सिर्फ दस साल की मासूम बच्ची!

मुझे ऐसा लगा, दो मिनट कुछ जल्दी ही गुज़र गये। मैंने इंजिन स्टार्ट कर दिया और उधर बराबर में घूम कर देखा तो वन्तो बाल्टी पाइप के नीचे लगा रही थी। मैंने कहा, "हट जा वन्तो, गाड़ी चल पड़ी है, मर जायेगी!" पर उसने मेरी आवाज़ से भी तेज़ आवाज़ में कहा, "अगर मैं पानी नहीं ले गई तो मेरी माँ मारेगी। वह आंगन में सिर खोले नहाने को बैठी है। उसे फिर शाम का खाना भी बनाना है। तुम उसका गुस्सा नहीं जानते, वह बड़ी बेरहमी से मारती है—सौतेली माँ है न।"

चाल बढ़ रही थी। वन्तो पाइप के नीचे बाल्टी लगाये अपने नन्हे-नन्हे पैरों से इंजिन के साथ दौड़ने की कोशिश कर रही थी। "वन्तो !" मैं चीखा और चाहा कि उसे पायदान पर खड़े होकर पीछे हटा दूँ। उससे कहूँ कि अब न दौड़ मेरी बच्ची, बाल्टी हटा ले। पर न जाने कैसे उसका वह लाल रेशमी दुपट्टा पहिये की लपेट में आ गया, जो उसने अपनी कमर से बाँधा हुआ था।

"आगे गाड़ी रुकी। लोग नीचे उतरे। जरा-सी देर में वहाँ भीड़ जमा हो गयी। मैंने देखा, लोगों ने देखा—उस फूल सी वन्तो के तड़पते हुए टुकड़े लाइन के आर-पार पड़े थे। मैंने अपनी आँखें बन्द करलीं। मुझ से यह सब देखा न गया। तब से मन बड़ा भारी हो रहा था। पर बारह बजे तक की ड्यूटी तो किसी तरह पूरी करनी ही थी। बाबूजी ये दुनिया के काम, ये रोटी के लिए दिन-रात की मेहनत, कभी नहीं रुकती...ये हमेशा चलते ही रहते हैं। रात इसीलिए आपके पास दौड़ा आया था। भला मैं उस बेचारी वन्तो के लिए अब क्या कर सकता हूँ ? आप तो रिसालों में अफ़साने लिखते हो। एक लिख दो न अफ़साना वन्तो के ऊपर। बेचारी वन्तो, जो बेमौत मर गयी, जो हर वक्त हँस-हँस कर बात किया करती थी और डरती थी तो केवल अपनी सौतेली माँ से—और यह नई माँ उसे बेबात ही बेरहमी से मारा करती थी। जब वह अफ़साना छपे तो मुझे देना। यकीन करो मैं उस अफ़साने को पढ़ने के लिए हिन्दी सीखूँगा बाबू जी!"

असलम चला गया था। मैं कुर्सी पर बैठा था और असलम मुझे वन्तो की कहानी लिखने की प्रेरणा दे गया था। उस वन्तो की कहानी की प्रेरणा जो अपनी माँ के लिए पानी लेने इतनी दूर चली गई है, जहाँ से वह कभी न लौट सकेगी।

मेरा मन सोच रहा था कि मुझे अभी वन्तो की कहानी लिख कर समाप्त करनी है क्योंकि अपने घर में बैठा असलम इस कहानी को पढ़ने की प्रतीक्षा कर रहा होगा। ●●

# नया क्षितिज !

प्रदीप कमरे की खुली खिड़की के सामने पड़ी कुर्सी पर अनमने भाव से बैठा था कि पीछे से उछलती-कूदती सर्रो उसके ठीक सामने आ खड़ी हुई। आए देर नहीं हुई कि बस चहकने लगी, "भय्या, भय्या ! आज तुम्हारे लिए एक खुशखबरी है। सुनोगे ?"

प्रदीप अपने में कुछ यूँ डूबा था कि सर्रो का कहा कुछ भी न सुन सका। तब उस अजीब भाई की अल्हड़ बहन ने उसे कन्धों से पकड़ कर झंझोड़ डाला। उसके कान में अन्दर तक अपनी उंगली घुसा दी, तब कहीं जाकर तपस्वी का ध्यान भंग हुआ।

"क्या है री, सर्रो ! दिन निकला नहीं कि तू ने परेशान करना शुरू कर दिया, चल भाग···भाग।"

"भय्या, देखो ! भागने को तो मैं भाग ही जाऊँगी पर एक बात तो बताओ। रात तुम देर से आए थे न ?"

"हाँ, आया था, तुझे मतलब ?"

"पिता जी ने तुमसे कुछ कहा ?"

"नहीं तो !"

"माता जी ने ?"

"वे तो सो चुकी थीं उस समय । बात क्या है ?" दोनों पैरों पर थोड़ा उछल कर धीरे से ताली बजाकर सर्रो कुछ हँसती सी बोली। "वही बात तो मैं कहने आई हूँ, और तुम हो कि सुनना ही नहीं चाहते । लो मैं चली ।"

"अरे नहीं, नहीं सर्रो ! जरा रुक तो । हाँ, बता !"

"बताऊँ ?"

"हाँ, कह न ?"

"वे हैं न, रुड़की के इंजीनियर शर्मा जी ?"

"हाँ, तो ?"

"और उनकी पुत्री हैं सुगँध जी ?"

"हाँ, तो कुछ हुआ भी ?"

"वे हमारे घर आ रही हैं ।"

"कब···क्यों" कहता हुआ प्रदीप कुर्सी पर बैठे-बैठे उछल पड़ा और उधर सर्रो थी कि हँसे जा रही थी, एक निर्बाध हँसी ।

"लो, भय्या ! तुम तो ऐसे घबराने लगे जैसे सुगंध नहीं, कोई आफ़त आने वाली हो । बात यह है कि वह अब शीघ्र ही मेरी भाभी बन कर आने वाली हैं, भाभी ।"

"अरी, जा ! तू तो ऐसे ही कहा करती है ?"

"जा नहीं, बात कल बिल्कुल पक्की हो गई ।"

सर्रो अन्दर चली गई । खिलखिलाते हुए प्रदीप कुर्सी से उठ खड़ा हुआ । आखिर सब कुछ तय हो गया सुगंध उसकी जीवन संगिनी बनेगी, सुगंध जो बी.ए. की छात्रा है ··जिसके पास अपरिमित रूप है लावण्य है अब उसकी हो जाएगी...वह उसको लेकर शान से घूम सकेगा...ये चाँद, ये सितारे, ये नीला गगन, सब उसके अपने हो जाएंगे ...प्रदीप को लगा जैसे किसी ने मुट्ठी भर कर ढेर सी मुस्कराहटें उसके सामने बिखेर दी हों और वह उनको चुनता हुआ आगे बढ़ रहा

है, जहाँ उसे एक लावण्यमयी युवती से मिलना है, सुगन्ध से मिलना है। वह देर तक अपने लम्बे बालों में हाथ फेरता हुआ, होठों को इकट्ठा कर सीटी सी बजाता कमरे में घूमता रहा। उसके बाद काफ़ी देर तक खिड़की के लोहे की सलाखों को पकड़ बाहर झाँकते हुए वह एक के बाद एक कई गीतों की कड़ियाँ गुनगुनाता रहा। धूप सरकती हुई उसके कमरे में घुस आई पर प्रदीप खोया सा उस धूप में खड़ा मुस्कराता रहा।

उस दिन नाई लगन ले आया। प्रदीप के लिए गर्म सूट का कपड़ा नोटों की गड्डियाँ, फल-मेवा तथा और भी न जाने क्या-क्या! रोली, तथा अक्षत का तिलक हुआ, भेंट मिली। सगे सम्बन्धी एकत्रित हुए। फिल्मी रिकार्डों ने, दूर-पास से आई सरसराती साड़ियों ने, खिल खिलाहटों ने वातावरण इतना मादक बना दिया कि प्रदीप झूम रहा था और सबसे अधिक सुगंध को पाने की कल्पना अब सत्य होने जा रही थी। सुगन्ध रूपी अनमोल रत्न उसके इतने पास आने वाला था जैसे किसी मुद्रिका में जड़ा कोई नग।

पूजन समाप्त हुआ। बैठे लोग उठे, बिखरे, बिखरते गए। सामने बैठे नाई ने एक बार चारों ओर देखा और जेब से निकाल कर लिफाफा प्रदीप के आगे सरकाते हुए धीरे से बोला "जमाई बाबूजी! यह सुगन्ध बिटिया ने आपको देने को बोला था।"

प्रदीप ने लिफाफे को छुआ तो सिहर उठा। सुगंध का पत्र, विवाह से पहले ही पत्र! क्या लिखा होगा इस में? वहाँ से उठ कर प्रदीप ऊपर एकन्त में जा पहुँचा। हँसी के कहकहों से दूर, छत के उस नीरव वातावरण में उसने बड़ी हौस से उतावले में लिफाफा खोल डाला।

'प्रदीप जी!'

बहुत सोचकर यही सम्बोधन दे पाई हूँ। क्षमा करें।

नहीं चाहती हूँ कि इस बेला आपको यह सब सुनाऊँ, लेकिन सत्य

जानिये जब नहीं रहा गया, तब ही लिख रही हूँ। अब संसार की कोई शक्ति ऐसी नहीं जो मुझे और आप को एक सूत्र में बँधने से रोक सके ! ऐसे में सहारा खोजती आँखें ठहर पाती हैं, तो केवल आप पर !

आप की पत्नी बनने का जो सौभाग्य मुझे मिलने वाला है, उसे स्वीकार करने में मुझे कोई आपत्ति तो नहीं है, लेकिन मैं विवाह को दो हृदयों के मिलन की संज्ञा देती हूँ, इससे अधिक कुछ नहीं। इस मिलन के लिए मैं धन-दौलत, घर-घराना, शिक्षा-अशिक्षा किसी को भी साधक या बाधक नहीं समझती।

आज यह सब लिखना ही होगा। परिमल नाम का एक अति साधारण सा युवक है। न जाने कब और क्यों वह मेरी चेतना में (या फिर मैं उसकी चेतना में !) इस सीमा तक समा गये कि साथ-साथ चले-चलने का एक अल्हड़ सपना इन दो प्राणों ने बुन लिया था। और आज वह सपना स्वयं उनके हाथों तार-तार हो रहा जो मेरे अभिभावक होने का दावा करते हैं। शिकायत न उनसे है, न किसी और से कभी होगी। यह भी सत्य जानिये कि मैं अपने इस विवाह का विरोध कर सकूँ ऐसी हिम्मत अपने में मैं कभी सँजो न पाऊँगी ! अब आपका ही अवलम्ब है, देखती हूँ कुछ सहायता मिलती है या नहीं ? न मिली तो भी इस घड़ी आप को विश्वास दिला देना चाहती हूँ कि आप की पत्नी बनने के बाद आपको मुझ से कभी किसी भी प्रकार की शिकायत का मौका न मिलेगा !

कैसे कहूँ—आपकी ?
'सुगन्ध'

परिमल...कौन है यह परिमल...? प्रदीप का सर चकराने लगा। उसने कभी सोचा भी न था कि अब सुगन्ध और उसके बीच कोई ऐसी बाधा भी उपस्थित हो सकती है ! कैसी अजीब बात है ! स्वयं सुगन्ध में साहस नहीं कि वह अपने पिता के इस निश्चय का विरोध

कर सके। इसके विपरीत वह उससे सहायता की अपेक्षा करती है जो स्वयं समाज और परिवार की सीमाओं में जकड़ा हुआ है। अब वह कैसे कहे कि वह चाहते हुए भी इस सम्बन्ध के विरोध में एक शब्द भी नहीं बोल पाएगा ?

प्रदीप जीने से नीचे उतर आया। आँगन में अब भी कहकहे गूँज रहे थे।

एक अनजानी-सी लड़की आगे बढ़ी, उसके पास आई और बोली, "यह सम्बन्ध मुबारक हो, मि. प्रदीप !"

प्रदीप कुछ भी न बोल सका, बस चित्रलिखित सा उस लड़की की ओर देखता रह गया—उसकी बड़ी-बड़ी कचनार सी फैली आँखों को, गुलाब की पंखुडी जैसे अधरों को।"

माँ ने आवाज़ लगाई "प्रदीप, बेटा ! कहाँ चले गए थे। गीता मलिक साहब और उनकी पत्नी सब तुम्हें पूछ रहे थे।

कोई उधर कोने में कह रहा था, "सूट का कपड़ा तो बहुत कीमती है। रुपये भी पूरे दो हजार हैं। विवाह अच्छा होगा।"

दूसरी ओर से किसी ने उत्तर दिया "क्यों नहीं, हमारा प्रदीप भी तो हीरा है, हीरा ! हीरे का मोल तो चुकाना ही होगा।"

एक सम्मिलित कहकहा हवा में तैर गया।

प्रदीप उन लोगों के बीच खड़ा रहा, बाहर से मुस्कराता भी रहा पर उसके हृदय में भीषण अन्तर्द्वन्द हो रहा था। वह कह दे पिता जी से ?...लेकिन कैसे कह पाएगा ? यह अभी-अभी कितना कुछ हुआ है। पिता जी प्रश्न के इस पक्ष पर सोचें यह तो दूर, वे सुन भी सकेंगे ?...

•

और वही हुआ। प्रदीप ने सुगन्ध को ठीक वैसा ही पाया जैसा कि सुना था। उसने आते ही सबके मन को मोह लिया। क्या माँ, क्या

पिताजी, सर्रो—सब दो दिन में ही उसके अपने हो गये। प्रदीप की माँ तो दिन में कई-कई बार कहतीं, "बहू क्या आई है हमारे तो सोये भाग जाग गए।"

सर्रो कहती, "सच रे! भय्या, सच! भाभी तो मेरे मन ऐसे भायी हैं कि बस कुछ कहा न जाए, हाँ!"

प्रदीप को याद है जिस दिन सुगन्ध आयी थी उस समय दिन छिप गया था। वह बहुत देर से अन्दर के कमरे में अकेली बैठी थी। माँ आदि सब ऊपर थे। सर्रो दो-तीन बार आकर कह गई थी, "भय्या! जाओ ज़रा देख तो आओ मेरी भाभी को, अकेली हैं।" पर वह चाहते हुए भी न जा पा रहा था। देर तक वह आँगन में चारपाई पर लेटा रहा और वहाँ सुगन्ध सर झुकाए अकेली बैठी रही।

काफ़ी देर बाद प्रदीप सोने के लिए अपना बिस्तर लेने जब कमरे में पहुँचा तब भी सुगन्ध अकेली बैठी थी। उसे कमरे में आया देख वह उठ खड़ी हुई। बिस्तर कन्धे पर डाल कर वह घूमा तो सुगन्ध ने मार्ग रोक लिया, "आप क्या मुझसे नाराज हैं?"

प्रदीप इस सब के लिए बिल्कुल तैयार न था। उसने देखा जाने का मार्ग पूरी तरह रोक लिया गया है। बिना कुछ कहे-सुने वह जा नहीं सकता। विवश हो बोला, "अभी तो हमने एक साथ बैठकर दो बातें भी नहीं की सुगन्ध! फिर नाराज़गी कैसी? तुम ऐसा कभी न सोचना।"

सुगन्ध मुस्करा दी, जैसे बादल फट गए हों, धूप चटक कर खिल गई हो।

प्रदीप चलते हुए बोला, "तुम से बातें करने को बहुत मन करता है। सोचता हूँ—घर में कोई न हो। हों बस केवल हम-तुम! तब तुम देखो—सारी रात तुम्हारे साथ बातें करता न अघाऊँ!"

"नींद आने पर भी न सोने दो?"

"नहीं, बिल्कुल नहीं।"

और तब सर्रो के अचानक आ जाने से प्रदीप बाहर निकल आया। बाहर आने पर उसे लगा वह अब तक सुगन्ध से व्यर्थ ही डरता रहा था। सुगन्ध के व्यवहार, बातचीत के ढंग, चेहरे की मुस्कराहट से तो ऐसा कुछ भी प्रकट नहीं होता कि वह उससे तनिक भी नाराज़ है। परिमल को लेकर जो एक दिन सुगन्ध ने प्रसंग छेड़ा था, उससे सहायता की अपेक्षा की थी और उसकी सीमाओं ने जो यह सब मानने से इन्कार कर दिया था, उसकी प्रतिक्रिया का अभास तक वह सुगन्ध के व्यवहार में नहीं पाता !

अगले दिन तीसरे पहर सुगन्ध रुड़की चली गई। सर्रो तो उसे जाने ही न देती थी, वह स्वयं भी बड़े अनमने भाव से गई।

जाने से कुछ देर पहले प्रदीप उसे एकान्त में मिला तो सुगन्ध ने आर्द्र होकर उससे कहा था, "देखो आपसे एक विनय है। विवाह से पूर्व मैंने आपके सम्मुख अपना जो पागलपन प्रकट किया था, उसे आप हमेशा के लिए अपने मन से निकाल दें।"

"अच्छा, सुगन्ध ! जब तुम यह प्रसंग एक बार फिर छेड़ ही बैठी हो तो मुझे कुछ बताओ भी। हमारे घर सब कुछ निश्चित होने के बाद भी तुमने जो परिमल को पाने के लिए वह अन्तिम प्रयत्न किया उससे तो यही प्रकट होता है कि तुम उसे बहुत चाहती थीं। अब परिमल तुम्हारे लिए अप्राप्य है तो उसके लिए तुम्हें कोई सन्ताप नहीं ? ऐसी विकट अनचाही परिस्थिति में भी हँसती हो, मुस्कराती हो। कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम मुझे, मेरे घरवालों को और फिर स्वयं को भी धोखा दे रही हो ?"

"जी नहीं, मैं किसी क़ो धोखा नहीं दे रही, विश्वास करो। मैंने समझ लिया कि परिमल मुझे इस जन्म में कदापि नहीं मिल सकता और इसीलिए अपने को उस रूप में ढाल लिया है, जिस रूप में यह

दुनिया मुझे देखना चाहती है। आज परिमल को मैं बिल्कुल भूल चुकी हूँ, और यदि मेरे हृदय में कोई अधिष्ठित है तो केवल आप! मेरे जीवन सर्वस्व! मेरे प्राणधन! अपने प्रथम पत्र में मैंने जो विश्वास आपको दिलाया था वह मुझे आज भी याद है, जीवन के प्रत्येक क्षण याद रहेगा। जिस दिन, जिस पल मैं ज़रा भी विचलित हुई, वह घड़ी फिर निश्चय ही मेरे महाप्रयाण की बेला होगी।"

एक अपूर्व निश्चय की आभा से दैदीप्यमान सुगन्ध के मुख को प्रदीप चित्रलिखित सा देखता रह गया। नारी के रूप, त्याग और आत्म-विश्वास का यह अनुपम सामंजस्य उसने प्रथम बार देखा था।

विवाह के बाद पहली बार प्रदीप अपनी ससुराल पहुँचा। एक दिन ठहर कर दूसरे दिन ही उसे सुगन्ध को अपने साथ ले आना था। ठरहने के लिए ऊपर का शानदार कमरा मिला। सुबह से कई बार वहाँ उस कमरे में बैठे हुए सुगन्ध से भी मिलना हुआ। शाम के समय जब सुगन्ध आई तो उसके हाथ में कुछ छिपा हुआ था। आकर दोनों हाथ पीछे किए वह पलंग के साथ ही पड़ी कुर्सी पर बैठ गयी।

"क्या मेरे लिए कुछ लाई हो, सुगन्ध?" प्रदीप ने उठते हुए पूछा।

"कुछ पत्र हैं, जो परिमल ने मुझे लिखे थे। मैं इन्हें नष्ट करना चाहती थी लेकिन फिर सोचा जब इस नाम से आप परिचित हो ही चुके हैं तो फिर क्यों न ये पत्र भी आपको पढ़ा दिये जायँ? आपके पढ़ लेने के बाद ही इन्हें नष्ट करना मैंने उचित समझा!"

प्रदीप ने हाथ आगे बढ़ा कर पत्र ले लिए। गिनती के चार पत्र थे वे। एक पत्र की तह खोलकर पढ़ना आरम्भ किया। उसे

समाप्त कर जब उसने दृष्टि ऊपर उठाकर देखा तो सुगन्ध नीचे जा चुकी थी।

शेष पत्र भी उसने पढ़ डाले। पढ़ने के बाद प्रदीप देर तक उन पत्रों के विषय में सोचता रहा। ये दोनों एक दूसरे को कितना प्यार करते थे...कितनी साध थी इनकी कि जीवन में कभी सदा के लिए मिल सकें...लेकिन अब उसी सुगन्ध को बरबस उसके साथ रहना होगा...परिमल से दूर, उसकी छाया से भी दूर! परिमल को पाने का सुगन्ध का वह अन्तिम प्रयत्न भी उसके द्वारा विफल कर दिया गया तो केवल इसलिए कि वह समाज की पुरानी जंग-खाई जंजीरों से जकड़ा हुआ था और उन्हें तोड़ सकने का साहस अपने में नहीं संजो सका। पर उसे लगा जैसे अन्दर से कोई चीख-चीख कर कह रहा हो, 'तुम्हारा हृदय, हृदय नहीं, पत्थर है। दो प्रेमी आपस में न मिल सके इसके लिए केवल तुम उत्तरदायी हो। तुमने अपनी आत्मा की आवाज़ को कुचला है...अब भी समय है...इन दो इन्सानों की जिन्दगी इस तरह न उजाड़ो! तुम समझते हो कि जो तुमने किया, यह उचित नहीं हुआ, फिर भी चुप हो। उठो! कुछ करो, नहीं तो तुम भी जीवन भर आग में जलते रहोगे'...

कमरे में बैठे-बैठे उसका दम घुटने सा लगा। चारों ओर अँधेरा घिरता आ रहा था। वह नीचे उतरा तो सुगन्ध की माँ ने पूछा, "कहीं जा रहे हो?"

"हाँ, ज़रा बाहर घूम आता हूँ।"

अब हल्के बिजली के प्रकाश में सोयी सी एक गली उसके सामने थी। मन में वेदना थी, विकलता थी और उसके पैर आगे बढ़ रहे थे।

जब वह वापस लौटा तो रात काफ़ी सरक चुकी थी। उसके घर में घुसते ही माँजी ने कहा, "कहाँ चले गये थे? बहुत देर हो गई!"

"बस, ऐसे ही नहर की तरफ़ घूमने निकल गया था, माँजी!"

खाना खाते समय सुगन्ध उसके सामने थी, बिल्कुल पास। लेकिन वे कुछ भी तो न बोल सके।

अगले दिन जब प्रदाप, सुगन्ध और उसके पिता स्टेशन पहुँचे तो गाड़ी तैयार खड़ी थी। सैकिंड क्लास के एक खाली डिब्बे में सामान चढ़ाकर सुगन्ध को खिड़की के पास ही बैठा दिया।

तभी गार्ड ने सीटी दी तो सुगन्ध के पिता ने प्रदीप का हाथ पकड़ कर कहा, "चलो बेटा, गाड़ी छूटने वाली है।"

प्रदीप ने हाथ जोड़े और अन्दर आ बैठा। पिता ने पुत्री के सर पर हाथ फेरा। सुगन्ध सुबकी। गाड़ी के पहिए सरकने लगे, सरकते गये।

रेल की पटरियों का फैला जाल कम होता गया। सिगनल गुज़रते-गुज़रते गाड़ी की रफ़्तार काफी तेज़ हो चली थी। गाड़ी की खड़-खड़ की आवाज़ और हवा के झोंको ने मिलकर उस सैकिण्ड क्लास के डिब्बे में एक हलचल सी पैदा कर दी थी। लेकिन उस डिब्बे के वे दोनों सहयात्री मौन थे। एक दिशा, एक स्थान की ओर जा रहे वे न जाने क्या-क्या सोच रहे थे !

सुगन्ध को प्रदीप का यह मौन बहुत अखर रहा था। आखिर ये चुप क्यों हैं ? ये कुछ बोलते क्यों नहीं ? सुगन्ध ने कुछ कहना चाहा पर प्रदीप की ओर जब उसने नज़र उठा कर देखा तो कुछ भी कहने का साहस न पड़ा।

सहारनपुर जंकशन !

प्रदीप नीचे उतर आया। सुगन्ध खिड़की पर कोहनी टेके सामने

देखती बैठी थी। उधर प्लेटफ़ार्म के पार हावड़ा एक्सप्रेस जाने को तैयार खड़ी थी।

प्रदीप खिड़की के पास सरक आया और बोला—"सुगन्ध नीचे आओ। अभी तो मेरी गाड़ी छूटने में काफ़ी देर है।"

सुगंध हँसती सी बोली, "क्या कह रहे हैं आप? क्या आपने मुझे बिल्कुल ही भुला दिया? अजी जनाब मैं भी तो आपके साथ हूँ। हमारी गाड़ी कहिये, हमारी गाड़ी!"

"बात यह है कि अभी तो काफ़ी देर है। पहले ये सामने वाली हावड़ा एक्सप्रेस छूटेगी। उसके बाद कहीं जाकर इस गाड़ी का नम्बर आएगा। आओ न नीचे!"

सहसा सुगन्ध वहीं खिड़की पर बैठे-बैठे चौंक उठी और उसके मुख से निकल पड़ा, "तुम यहाँ?"

प्रदीप ने देखा एक युवक उसके सामने खड़ा है। वह आगे बढ़ा और उसके साथ डिब्बे में आ बैठा।

सामने बैठी सुगन्ध की ओर देखते हुए प्रदीप ने कहा, "यही तुम्हारे परिमल हैं न, सुगन्ध?"

पर सुगन्ध ने तो जैसे सब सुना अनसुना कर दिया। वह गरज उठी, "तुम यहाँ क्यों आए? किसने कहा था तुम्हें यहाँ आने को? क्या तुम सचमुच नहीं चाहते कि मैं एक पल को तुम्हें भूल पाऊँ? मैं जानती हूँ तुम यहाँ क्यों आये हो। तुम मेरी आँखों के आँसू देखने आए हो! पर देखो मैं तो हँस रही हूँ और जीवन भर ऐसे ही हँसती रहूँगी। तुम मेरे आँसू कभी नहीं देख पाओगे। मैं रोऊँ भी क्यों? मैं तो हँसूंगी, सदा इसी तरह हँसूंगी!"

प्रदाप ने कहना चाहा, "सुगन्ध क्या कह रही हो? इन्हें तो..."

सुगन्ध फिर बहक उठी, "जाओ, चले जाओ; और वचन दो कि इस प्रकार का पागलपन फिर कभी नहीं करोगे! यह न भूलना कि सुगन्ध अब किसी की पत्नी है और एक पत्नी के सम्मुख केवल एक मूर्ति होती

है, एक ध्येय होता है और केवल एक के प्रति कर्त्तव्य होता है और वह होता है उसका पति !"

सुगन्ध चुप हो गई थी पर उसका शरीर अब भी क्रोध से काँप रहा था।

सुगन्ध को सम्बोधित कर सहसा प्रदीप कह उठा, "तुम्हें शायद मालूम नहीं, मैंने ही परिमल को यहाँ बुलाया है! जानती हो कल मैं देर से क्यों लौटा था ?"

परिमल हाथ जोड़ कर उठने को हुआ कि प्रदीप ने उसे फिर अपने पास बैठा लिया और बोला, "बैठो परिमल ! अभी गाड़ी छूटने में देर है। शायद तुम सोच रहे हो कि मैंने तुम्हें यहाँ बुलाकर अच्छा नहीं किया। हो सकता है तुम यह भी सोच रहे हो कि मैंने तुम्हें सुगन्ध द्वारा इस प्रकार अपमानित करने के लिए ही यहाँ बुलाया था।"

प्रदीप रुका। उसकी आँखें आँसू भर लायी थीं। उन्हीं छलछलाती आँखों से सामने की ओर देखते हुए वह फिर बोला, "सामने वह गाड़ी देख रहे हो, जो हावड़ा जाने के लिए तैयार खड़ी है ? मेरे मन में एक चित्र है जिसे मैं अपने जीवन के कोरे कैनवास पर यथार्थ रूप देना चाहता हूँ। उस चित्र में मैं यहाँ खिड़की से सटा हुआ बाहर की ओर देखता बैठा हूँ और ठीक सामने इस डिब्बे में एक दम्पति बैठे हुए हैं। उनके मुख पर बहुत कुछ पा जाने के से भाव हैं। जानते हो यह दम्पति कौन हैं ? वे हैं परिमल और सुगन्ध !"

सुगन्ध सीट से उठ बैठी, "आप क्या कह रहे हैं ?"

"पागल न बनो सुगन्ध ! जो मैं कह रहा हूँ, ठीक कह रहा हूँ। तुम में है साहस यह कहने का कि तुम परिमल से अधिक, मेरी हो ? मैं स्वीकार करता हूँ कि तुम में कर्त्तव्य के प्रति समर्पित हो जाने का आग्रह है; और यह आग्रह बहुत सबल है। किन्तु तुम्हारी भावना तो परिमल को ही समर्पित है। और भावना का सत्य क्या कुछ मोल रखता ही नहीं ? कर्त्तव्य और भावना का सामंजस्य ही जीवन को

स्वस्थ और सही दिशा देता है। आवेश में आकर भावना को ठुकराया तो जा सकता है, किन्तु ठुकराई गई भावना विकृत होकर जीवन के लिए भार बन जाती है।''

''यह ठीक है कि तुम अपने को जीवन के नये साँचे में ढालने का पूरा-पूरा प्रयत्न कर रही हो, तुम्हारे कहने के अनुसार तुमने स्वयं को ढाल भी लिया है ; लेकिन आदमी लोहा तो नहीं कि उसे गर्म किया और चाहे जिस साँचे में ढाल लिया ? वह चाह कर भी ढल या ढाला नहीं जा सकता ? और फिर वह ढले भी क्यों ? नये साँचे में ढलने से पहले जितना तपने की आवश्यकता होती है, उतनी तपन लोहे को तो निश्चय ही निखार देती है, किन्तु आदमी भी उस तपन में निखरेगा ही, यह सोचना भ्रम से अधिक कुछ नहीं। उसका पूर्व व्यक्तित्व तो उस तपन में राख ही हो रहेगा। और यह कोई छोटी हानि होगी ?''

सुगन्ध और परिमल स्तब्ध हुए प्रदीप की ओर देख रहे थे। प्रदीप ने फिर कहना आरम्भ किया, ''तुम मुझे सुख देना चाहती हो न सुगन्ध ? लेकिन याद रखो—मुझे सुख देने का जो मार्ग तुम अपनाना चाहती हो वह स्वयं तुम्हें शान्ति नहीं दे सकेगा ; और जो स्वयं शान्त न हो वह दूसरों को सुख दे सकेगा ?''

''मैंने सब कुछ सोच लिया है। जो मैं चाहता हूँ उसे होने दो। यह तो कल होना चाहिए था। यह तो उस दिन होना चाहिए था जिस दिन मुझे तुम्हारा वह पत्र मिला था। इन्कार न करो सुगन्ध, हाँ कहो, हाँ।''

परिमल बोला, ''यह कैसे हो सकता है ? इसीलिए आपने मुझे बुलाया था ? मैं यह कभी न होने दूँगा।''

''होने कैसे नहीं दोगे ? मेरे बड़े होने का इतना भी मान न रखोगे ? मैंने इसीलिए बुलाया था तुम्हें। सच, इसीलिए। लेकिन यह कहने में संकोच-शर्म जैसी तो कोई बात होनी नहीं चाहिए।''

प्रदीप परिमल को साथ लिए नीचे उतरा। सुगन्ध भी नीचे उतर चुकी थी। प्रदीप ने उन दोनों को सामने खड़ी गाड़ी के एक डिब्बे में बैठाया और एक लिफ़ाफा परिमल को देते हुए बोला "कलकत्ते में मेरे एक मित्र के नाम है यह पत्र। तुम इनके पास चले जाना। वहाँ तुम्हारी नौकरी और रहने का जल्दी ही प्रबन्ध हो जाएगा। कुछ और भी है इसमें। स्वीकारने में संकोच न करना।"

सुगन्ध रो रही थी। आस-पास बाहर-अन्दर बहुत से यात्री थे। उन सब की ओर से बेपरवाह वह कहती जा रही थी, "न न मुझे यों न छोड़िये। मैं अब यह नहीं चाहती। मैं तो आपके साथ ही रहूँगी। मुझे वापस ले चलिए। मुझ में साहस नहीं है कि इस अप्राप्य को इस प्रकार प्राप्त होता देख सकूँ। मैं दुनिया से डरती हूँ, अपने घर से डरती हूँ, बहुत डरती हूँ..."

लेकिन प्रदीप ने उसकी एक न सुनी और बोला, "नहीं, सुगन्ध! यह होने दो। इसके बिना कोई चारा नहीं। मैं भी अपने घर से बहुत डरता था, लेकिन जो सच है, जो होना चाहिए, उसके लिए डर कैसा? न डरो। समाज ने जो परिमल तुम्हें नही दिया, वह मैं तुम्हें दे रहा हूँ और यह क्यों नहीं समझती कि मैं भी तो समाज ही हूँ। क्या तुम आजीवन यह कहना चाहती हो कि समाज ने तुम से तुम्हारा परिमल छीन लिया। बस, लो अब मुस्करा दो...अब मैं बदल गया हूँ..."

गार्ड ने झंडी दिखायी। प्रदीप नीचे आ खड़ा हुआ। हावड़ा एक्सप्रेस चल दी। प्रदीप ने अपना दायाँ हाथ ऊपर उठाया। दूर जाते वे दोनों उसे देख रहे थे। प्रदीप का हाथ हवा में हिल रहा था और गाड़ी की रफ्तार निरन्तर बढ़ रही थी! ●●

# मिस्टर धीरेन्द्र

जब से सुना है कि मिस्टर धीरेन्द्र का कानपुर तबादला हो गया है, बड़ा अजीब सा लग रहा है। मिस्टर धीरेन्द्र मेरे साथ वाली सीट पर ही बैठे हैं लेकिन हिम्मत नहीं पड़ रही कि उनकी ओर एक दृष्टि तो उठा कर देख सकूँ। वह भी जैसे मेरे मन का भाव ताड़ गये हैं। सुबह से मुझसे एक शब्द भी नहीं बोले। साढ़े नौ बजे जब वह दफ्तर आए थे, उस समय मेरी ओर देखकर उन्होंने एक बार नमस्ते अवश्य की थी लेकिन मैं प्रत्युत्तर में तब भी मौन रहा। उन्हें आज ही रात को दस की गाड़ी से कानपुर के लिए रवाना हो जाना है।

ये दिन...ये दोपहर...ये ढलती शाम...यहाँ का यह सब...आज उनके लिए अन्तिम है, लेकिन वह फिर भी कुर्सी पर बैठे अपने काम में व्यस्त हैं।

साढ़े चार बज चुके हैं और घड़ी की सुइयाँ सरक रही हैं। अब थोड़ी देर में पाँच भी बज ही जायेंगे। मैंने अपनी मेज़ पर फैले काम को समेटना आरम्भ कर दिया है और उधर कनखियों से देख रहा हूँ कि मिस्टर धीरेन्द्र

साथ रखे स्टील के रैक स उठाकर एक फाइल के पन्ने उलट रहे हैं, चारों ओर से बेखबर।

प्रेमसिंह ने धर्मपालन और सुन्दरम् की टाइप की मशीनों को ढक दिया है। गोडरेज की आलमारियों के खुलने और बन्द होने की आवाज़ से हाल गूँज उठा है। मिस्टर मूर्ति अपनी मेज़ की दोनों दराजों को जोर से भेड़कर कुर्सी को पीछे ठेल कर खड़े हो गए हैं और साथ बैठे मिस्टर सैनी से हँस-हँस कर बातें कर रहे हैं। हैरिस डाक का थैला लटकाए मेरे सामने से गुज़र कर बाहर पोस्ट ऑफिस के लिए चला गया है और मिस्टर धीरेन्द्र अपना बाँया हाथ खुली हुई फ़ाइल के बीच में रखकर कोई पत्र लिख रहे हैं।

पाँच बज गए। मैं अपनी सीट से उठ खड़ा हुआ हूँ। सब लोग सामने के दरवाज़े से निकल कर कैन्टोन की तरफ जा रहे हैं, जहाँ हम सब ने आज चाय पार्टी का आयोजन किया है। हाल में अब केवल वही रह गया है जिसके सम्मान में ये छोटी-सी पार्टी हो रही है और हम सब कैंटीन में आमने-सामने दो लाइनों में खड़े हैं। जंगले में लगी लोहे की बारीक जालियों में से मिस्टर धीरेन्द्र आते हुए दिखाई दे रहे हैं। मन्द चाल और बोझिल से पैर ! पहले सब लोग चाय पियेंगे और फिर कुछ लोग बोलेंगे ! मिस्टर धीरेन्द्र के विषय में बहुत कुछ कहा जाएगा। वे अच्छे थे...मेहनती...सरल स्वभाव...और भी न जाने क्या-क्या ? एक सी बातें होंगी, लेकिन शब्द अलग-अलग, कहने का ढंग भिन्न-भिन्न। फिर सब उनसे एक-एक करके हाथ मिलाएँगे, शुभ कामनाएँ प्रकट करेंगे और फिर एक-एक करके चले जाएँगे।

मेरा गला अभी से रुँध गया है। लगता है अब एक शब्द भी मुख से न निकल सकेगा। लेकिन आज मैं बहुत कुछ कहना चाहता हूँ। मिस्टर धीरेन्द्र के विषय में जो कुछ प्राय: लोग जानते हैं, वे केवल वही नहीं है। उसके अतिरिक्त भी वे बहुत कुछ हैं, जो दफ्तर में केवल

मैं ही जानता हूँ। पर क्या मैं इस वेला कुछ बोल सकूँगा ?...शायद नहीं। मैं इस समय ऐसी मनःस्थिति में नहीं हूं कि मिस्टर धीरेन्द्र को कम से कम इस अन्तिम समय तो इन सबसे पूर्णरूपेण परिचित करा सकूँ।

वही हुआ।

पाँच-छः लोग बोल चुके हैं। अब मिस्टर धीरेन्द्र की बारी है। सब उनके चेहरे की तरफ़ देख रहे हैं और मैं देख रहा हूँ कि पैन्ट की जेब से उन्होंने रुमाल निकाल लिया है। उनकी आँखों में पानी भरा है, बस छलकने की देर है। एक गहरी निश्वास लेते हुए मिस्टर धीरेन्द्र कह रहे हैं, "आप सब से आज विदा लेते हुए मुझे बहुत दुख है। मुझे ऐसा लग रहा है जैसे मैं अपने एक बड़े परिवार से बिछुड़ रहा हूँ। आज मैं कुछ समझ नहीं पाता, क्या कहूँ कैसे कहूँ ?" तभी मिस्टर धीरेन्द्र के हृदय का बाँध टूट गया। वह सुबक उठे। छलछलाती आँखों से सब की ओर देख कर उन्होंने हाथ जोड़े और विदा-विदा कहते हुए तेज़ी से हमारे बीच से चले गये।

एक-एक कर सब चले गए हैं। मिस्टर धीरेन्द्र भी जा चुके हैं। कैन्टीन में अब कोई नहीं है। पत्थर की मेजें और खाली कुर्सियाँ··· बस। मैं भी उठना चाहता हूँ, जाना चाहता हूँ पर जा नहीं पा रहा। पैर भारी हो गए हैं···बिल्कुल पत्थर। मेरा शरीर ही जैसे उस काठ की कुर्सी से चिपक गया है। सब कुछ याद आ रहा है...एक के बाद एक सभी घटनाएँ...

तीन वर्ष पहले मिस्टर धीरेन्द्र हमारे दफ्तर में नौकरी के लिए आए थे। उनके साथ ही उस दिन एक अन्य युवक भी इम्तहान के लिए बुलाया गया था। टाइप की स्पीड का टैस्ट मुझे लेना था अतः

मैं उस युवक को, जिसकी अवस्था मुश्किल से अठारह वर्ष की रही होगी, समझा रहा था कि चाहे कम टाइप करना पर ध्यान रहे कि मिस्टेक न हों। वह चाहे तो कुछ अभ्यास करले, इसके लिए भी मैंने उसे अनुमति दे दी थी। पता नहीं उसके प्रति मेरे व्यवहार में मिस्टर धीरेन्द्र को ऐसा क्या कुछ लगा कि उन्होंने संकेत से मुझे अपने पास बुलाया और कहने लगे, "एक बात कहूँ, आप बुरा तो नहीं मानेंगे ?"

मैं इस सब के लिये बिल्कुल तैयार न था, फिर भी बोला, "कहिए क्या बात है ?"

"यह युवक आपका परिचित है ?"

मुझे कुछ क्रोध हो आया, बोला "आपका मतलब ?"

"आप चाहें तो इसे ही रख सकते हैं। मैं वापस चला जाऊँगा।"

मैं अवाक्-सा मिस्टर धीरेन्द्र की ओर देखता रह गया। यह एक विचित्र बात थी। पहले ऐसा कभी किसी से नहीं सुना था। मैं चुप चला आया। मैंने उन दोनों में से किसी का भी पक्ष नहीं लिया; लेकिन मैं उस समय यह अवश्य चाहने लगा था कि मिस्टर धीरेन्द्र ही चुने जाएँ और बाद में जब वह इम्तहान में सफल हुए तो मुझे आन्तरिक प्रसन्नता हुई। लगभग दो महीने उन्हें टाइप का काम करना पड़ा और इसके बाद हमारे विभाग में क्लर्क बना दिए गए।

दफ्तर साढ़े नौ लगता था और छुट्टी होती थी पाँच बजे; पर हम मुश्किल से तीन-चार घंटे ही काम करके देते थे। सुबह ग्यारह बजे तक इधर-उधर घूमना और उधर चार बजे से ही छुट्टी का नशा चढ़ जाता; लेकिन मिस्टर धीरेन्द्र की बात और थी। दफ्तर में देर से आते हुए तो मिस्टर धीरेन्द्र को शायद ही कभी देखा हो। प्रायः नौ बजे आकर वे काम में जुट जाते और शाम को जब तक पाँच की घंटी न घनघना उठती वे फ़ाइलें समेटने का नाम भी न लेते। उनकी सीट पर वैसे ही काम हम सबसे ज़्यादा था लेकिन कभी उन्होंने किसी की

मदद नहीं ली। अपने काम के अतिरिक्त वे दूसरे साथियों का भी थोड़ा बहुत काम कर दिया करते। जब कभी किसी ने किसी काम को एक बार झूठे भी कहा, उन्होंने मना नहीं किया और यही कारण था कि वे हमेशा काम की अधिकता से दबे रहते। यह सत्य भी किसी से छुपा न था कि यह व्यस्तता सब उन्होंने अपने आप ही मोल ली थी।

महीने की प्रत्येक दस तारीख को उन्हें एक आय सम्बन्धी स्टेटमैन्ट हैड ऑफ़िस भेजना होता था। एक बार ऐसा हुआ कि वह दस तारीख को स्टेटमैन्ट हैड ऑफ़िस न भेज सके। साहब ने उन्हें अगले दिन अपने कमरे में बुला भेजा। खूब झाड़ा। साहब का उस दिन न जाने क्यों मूड बहुत खराब हो गया। वह मिस्टर धीरेन्द्र को बुरी तरह लताड़ रहा था। सारे हाल में मौत का सा सन्नाटा छाया हुआ था। न जाने आज साहब क्या कुछ कर बैठे! सब के सब क्लर्क मेज़ पर झुके हुए थे। किसी में इतनी भी हिम्मत न थी कि गर्दन तक ऊपर उठा सकें। देर तक साहब की चिल्लाहट हाल में गूँजती रही।

आध घंटे बाद मिस्टर धीरेन्द्र चुपचाप अपनी सीट पर आ बैठे। उस दिन रात को आठ बजे तक वह दफ्तर में काम करते रहे। स्टेटमैन्ट तैयार किया। देखा टाइपिस्ट न था। खुद ही टाइप करने बैठ गए। साइकिल पर साहब के घर कनॉट प्लेस पहुँचे, हस्ताक्षर कराए और स्टेशन पर वह लिफ़ाफा डाक में छोड़कर तब कहीं दस बजे घर पहुँचे।

अगले दिन लंच के समय मैंने मिस्टर धीरेन्द्र से पूछा, "इस बार

इंस्टालमैंट भेजने में देर कैसे हो गई ? आप तो नौ तारीख को ही भेज दिया करते थे।"

कुछ देर वे टालते रहे, पर मैं छोड़ने वाला कहाँ था ? बताने से पहले बोले, "देखो किसी और को पता न लगे, वायदा करो। यदि तुमने किसी से भी कहा तो मुझे बहुत दुःख होगा।"

मेरे पूर्ण विश्वास दिलाने पर ही उन्होंने बताया, "जानते हो ऑडिटर आया हुआ है। खजाँची की 'पे आर्डर' की फाइल में बहुत गड़बड़ थी। उसकी मदद न करता तो उसकी खैर न थी। मेरा क्या ? मुझ पर तो थोड़ी डाँट पड़ कर रह गयी। अगर मैं ऐसे में खजांची की सहायता न करता तो बेचारे को नौकरी से ही हाथ धोने पड़ते। ऑडिटर तो वैसे ही पिछले साल से उससे जला बैठा था।"

मिस्टर धीरेन्द्र के पास दफ्तर के पते पर बहुत-सी पत्र-पत्रिकाएँ आया करती थीं। मुझे पत्रिकाएँ पढ़ने का शौक पहले ही से है इसलिए उनसे वे सब पत्रिकाएँ माँग कर पढ़ लिया करता था। मुझे यह तो समझते देर न लगी कि उन्हें हिन्दी साहित्य से कुछ विशिष्ट प्रेम है लेकिन फिर भी मैं सोचता कि यह आजकल के ज़माने में बीस-पच्चीस रुपये माहवार साहित्य पर कैसे खर्च कर पाते हैं ?

एक बार एक पत्रिका में प्रकाशित कहानी मुझे इतनी अधिक पसन्द आई कि मैं उसके विषय में मिस्टर धीरेन्द्र से भी ज़िक्र कर बैठा। तारीफ़ के साथ जब मैंने भावावेश में उनसे वह कहानी उसी समय पढ़ डालने के लिए अनुरोध किया तो वे हँस पड़े। इस अकारण हँसी से मैं तनिक भी विचलित न हुआ और बोला, "आप हँसते हैं ? सच कहता हूँ—बड़ी बेजोड़ कहानी है। कहें तो मैं ही सुनाऊँ ?"

"मैं इसे पढ़ चुका हूँ !" आखिर मिस्टर धीरेन्द्र बोले ।

"कितना दर्द है इस रचना में ? कैसा होगा इसका रचयिता ?"

"यह कहानी मैंने ही लिखी है !"

मिस्टर धीरेन्द्र ने धीरे से कहा पर मेरे लिए यह एक विस्फोट से कम न था । मैंने तो कभी सोचा भी न था कि यह सुनने को मिलेगा । मिस्टर धीरेन्द्र...इतना महान साहित्यकार ! उस दिन मुझे पहली बार पता लगा कि मिस्टर धीरेन्द्र उपनाम से साहित्य-सृजन भी करते हैं । तब उस उपनामधारी साहित्यिक की लिखी हुई कई रचनाएँ मेरे आगे घूम गईं । हर महीने इतनी पत्रिकाएँ उनके पास आने की बात अब आई मेरी समझ में । श्रद्धा से मस्तक नत हो गया । गद्-गद् कंठ से बोला, "आपने आज तक यह भेद मुझ पर प्रकट क्यों न होने दिया ? दूसरों को छोड़ो, मुझे भी आपने आभास नहीं होने दिया कि मैं एक इतने बड़े साहित्यकार के निकट रह रहा हूँ । मेरे बराबर की सीट पर बैठा हुआ जो दिन भर फ़ाइलों में फँसा रहता है वह साहित्य जगत का एक जगमगाता सितारा है, मैं नौकरी के लिए आए हुए जिस व्यक्ति का टैस्ट ले रहा हूँ वह एक महान विभूति है !"

मिस्टर धीरेन्द्र बोले, "भई मानता हूँ, हो भावुक तुम भी । अच्छा, भूल हुई । आगे से ऐसा नहीं होगा ।"

मैं मिस्टर धीरेन्द्र के साथ उनके घर बैठा हुआ था । एक पुस्तक के बीच रखा हुआ किसी रश्मि द्वारा उनको लिखा हुआ एक पत्र मैंने उनसे बिना पूछे ही पढ़ डाला और फिर उत्सुकतावश पूछा "यह रश्मि जी कौन हैं ? आपने तो कभी मुझ से इनका ज़िक्र नहीं किया ?"

उत्तर में वैसे तो मिस्टर धीरेन्द्र मौन रहे पर मेरे सम्मुख पन्द्रह-बीस चिट्ठियों का एक पुलिन्दा निकाल कर रख दिया, जैसे कुछ भी छिपाना न चाहते हों। घण्टे भर में मैंने वह सब पत्र समाप्त कर डाले। वे सब पत्र एक मनोहारी भावुकता से ओत-प्रोत थे। किसी पत्र के लिखने का समय था रात्रि के बारह बजे, तो कोई क्लास रूम में बैठ कर लिखा गया था। किसी पत्र में मिस्टर धीरेन्द्र से बनारस आने का आग्रह किया गया था तो किसी में स्वयं कभी दिल्ली आने की लालसा प्रकट की गई थी। एक पत्र के अन्त में पता नहीं स्वरचित या कहीं से उद्धृत कविता का अंश लिखा हुआ था—

**कभी-कभी अँधियारी निशि में,**
**धीरज साथ छोड़ देता है!**
**ठंडी तेज़ हवा का झोंका,**
**मेरी राह मोड़ देता है!**

नौ बज चुके थे। मैं मिस्टर धीरेन्द्र से विदा लेकर लौट आया। मेरी आँखों के आगे रह-रह कर वह चंचल भावुक रश्मि, उसके भावुकता के क्षणों में लिखे गये वे पत्र घूम रहे थे। एक पत्र में उसने लिखा था 'धीरेन्द्र जी, मैं आज आपको एक तथ्य बता देना चाहती हूँ। मेरे जीवन के ध्येय अनिश्चित हैं। मेरे मार्ग खोये हुए हैं। मेरी शक्तियाँ बिखरी हुई हैं। सोचती हूँ आप मेरी कुछ सहायता कर सकते। जीवन के प्रशस्त सूने मार्ग पर मैं आज अकेली हूँ। मेरा न कोई घर है और न सगा-सम्बन्धी। मेरे लिए आपके पत्र एक अमूल्य निधि सदृश हैं। चाहती हूँ यह पत्रों का स्रोत कभी बन्द न हो।'

मैं सोच रहा था—मिस्टर धीरेन्द्र में कितना चारित्रिक बल है। नहीं तो ये कविताएँ...ये भाव...ये रात के शान्त वातावरण में लिखे गए पत्र, किसी को भी डिगा सकने के लिए पर्याप्त थे?

एक हफ़्ते बाद रश्मि का एक और पत्र मिस्टर धीरेन्द्र के पास दफ़्तर में आया। पत्र के प्रति मेरी उत्सुकता देख कर पत्र मुझे देते हुए वे बोले, "बहुत अबोध है। जाने क्या-क्या लिख जाती है! मुझे इस अपरिपक्व बुद्धि पर बहुत तरस आता है...एक दम भोली भावुकता!"

पत्र में एक स्थान पर लिखा था, 'धीरेन्द्र जी! मैं एक ऐसे घर में पैदा हुई हूँ, जहाँ लड़कियाँ केवल शादी कराने के लिए पैदा होती हैं और मेरी भूल थी कि मैं जीवन के मीठे-तीखे स्वाद चखना चाहती थी। मैं पिछले वर्ष आपके पास आई थी। सोचा था आप अपनी कहानियों के पात्रों के समान ही मुखर होंगे। वहाँ मैं बनारस के मुकाबले अधिक स्वतंत्र रह सकूँगी। परन्तु आप...एक दम मौन हो गये थे। मैं बहुत कुछ बोलना चाहती थी, पूछना चाहती थी। सच तो यह है—मन करता था कि आप पूछें; परन्तु मैं अपनी आदत के प्रतिकूल बोलती गई—पागलों की तरह। पता नहीं आपके सम्मुख इतनी मुखर कैसे हो गई थी? सच, मेरा मन सदैव अपनी इस हार को लेकर रोया करता है! इधर-उधर से कुछ टूटी रेखायें संजोकर एक आकृति बनायी थी। परन्तु भाग्य के भयंकर झोंके में वह भी सिहर उठी। कौन जाने कल समाज के वीरान खंडहरों में टकराकर पुन: बिखर जाए। मेरा उन्माद भी तभी समाप्त होगा। लेकिन आप से ऐसी आशा थी नहीं।'

मिस्टर धीरेन्द्र ने इस पत्र के उत्तर में जो लिखा वह भी मैंने पढ़ा। पाँच सफ़े के उस पत्र के उत्तर में केवल कुछ पंक्तियाँ थीं। उन्होंने लिखा था, 'बहुत दिनों से मैं तुम से एक बात कहना चाहता था और वह यह कि तुम में असाधारण लेखन-प्रतिभा है। तुम्हारे पत्रों को जब-जब मैं पढ़ता हूँ, सोचने लगता हूँ कि तुम साहित्य सृजन ही क्यों न करो? आशा है तुम कहानी...लेख...कविता...कुछ भी शीघ्र ही लिखकर मुझे भेजोगी। मैं अपनी ओर से भरसक प्रयत्न

करूँगा कि तुम्हारे इस साहित्यिक निर्माण में सहायक हो सकूँ ।'

...चारों ओर अँधेरा छा गया है ।कैन्टीन की, बत्तियाँ जल उठीं हैं। अब मैं चलना ही चाहता हूँ। कुर्सी से उठ खड़ा हुआ हूँ। दरवाज़े की ओर बढ़ रहा हूँ, क्योंकि अब मुझे घर जाना है ।

दरवाज़े तक पहुँचते-पहुँचते एक चित्र और उभरता है...

दफ्तर में हमेशा सब ने उन्हें डेढ़ सौ रुपया पाने वाला एक क्लर्क ही समझा। एक सीधा-सादा और मेहनती क्लर्क जैसे कि आमतौर पर दफ्तरों में पाये जाते हैं। सच तो यह है कि मिस्टर धीरेन्द्र को अपने प्रचार से तनिक भी दिलचस्पी नहीं थी। उन्होंने जब कोई कार्य किया, त्याग किया, तो बिल्कुल मौन रहे, जैसे कुछ हुआ ही न हो।

मिस्टर धीरेन्द्र के कार्य करने की लगन और कुशलता को साहब अन्दर ही अन्दर बहुत मानता था और वह उनसे प्रभावित भी था। उन दिनों जालन्धर में नया डिपो खुलने वाला था। साहब ने मिस्टर धीरेन्द्र को अपने पास बुलाया, उनकी पीठ थपथपायी और कहा कि उन्हें पचास रुपये के स्पेशल इन्क्रीमैंट के साथ जालन्धर भेजना चाहते हैं। लेकिन मिस्टर धीरेन्द्र जानते थे कि इस अवसर का सच्चा अधिकारी एक दूसरा पुराना क्लर्क था और इसी लिए उन्होंने इन्कार कर दिया। वह चाहते तो इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए जालन्धर जा सकते थे और इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज वह जालन्धर के डिपो अधिकारी ही नहीं, वरन् किसी और बड़ी पदवी पर होते। उनका वेतन तथा उनका भविष्य इस दफ्तर में बहुत ही उज्ज्वल होता। एक दूसरे को कुचलते हुए, हक छीनते हुए, मुँह का

कौर छीनते हुए आगे बढ़ने की प्रवृत्ति वाले इस आज के समाज में मिस्टर धीरेन्द्र जैसे चरित्र कहाँ दिखाई देते हैं ?

मिस्टर धीरेन्द्र तुम चले गये, अच्छा ही हुआ। सच जानो, यहाँ तुम्हें अब कोई याद न करेगा। आज तुम जा रहे हो तो सब तुम्हारा नाम ले रहे हैं। सबने अभी थोड़ी देर पहले बड़ी प्रगाढ़ता से तुम से हाथ मिलाये हैं। लेकिन केवल आज गुज़रने दो। कल आने दो। सब तुम्हें भूल जायेंगे। वह खजाँची, जिसकी एक दिन तुमने नौकरी बचायी थी। वह भी एक न एक दिन तुम्हें ज़रूर भूल जाएगा। वह साहब भी तुम्हारे उस दिन के त्याग को एक न एक दिन अवश्य भूल जायेगा। रश्मि भी तुम्हें भूल जायेगी, क्योंकि तुम हमेशा उसके विपरीत चले ; जो वह चाहती थी, वह तुमने कभी नहीं होने दिया, केवल इसीलिए, मिस्टर धीरेन्द्र, केवल इसीलिए ! ●●

## सीमा

"कुछ निश्चय किया आपने ?"

"किसके बारे में, कैसा निश्चय ?"

"ओह···क्या यह सब आज फिर बताना होगा ? अजी, वही जिसके विषय में कल कहा था।"

"सीमा, तुम तो व्यर्थ ज़िद करती हो। कहीं ऐसा भी हुआ है ? कान खोल कर सुन लो। मुझसे ये सब अब नहीं होगा। हाँ, होगा ही नहीं। मेरा कहना मानो...इस पागलपन को भूल जाओ। ये सब मेरे बस की बात नहीं है। पता नहीं तुम ऐसा कैसे सोच पाती हो।"

"कैसे सोच पाती हूँ, यह न पूछो तो अच्छा है। मैं तो एक बात जानती हूँ, और वह यह कि आपको मेरी बात माननी ही होगी। आज नहीं तो कल, परसों...किसी भी दिन। जो आजकल मैं सोच रही हूँ, वह पूरा होगा ही—देख लेना।"

"ऐसा न कहो। ये सब झंझट मुझसे सचमुच ही न हो सकेगा। नहीं तो भला कभी मैंने तुम्हारी कोई बात टाली है ? पाँच साल हो गए सीमा, इन पाँच सालों में

मैंने तुम्हें हर तरह प्रसन्न रखने का प्रयत्न किया है। लेकिन तुम्हारी यह अजीब सी इच्छा मैं कभी पूरी न कर सकूँगा।"

"आप ही तो कहते हो कि घर सूना-सूना लगता है। सब कुछ होते हुए भी एक अभाव ने सारी खुशियों को अपने काले आवरण में छिपा लिया है। इस अभाव में हम दोनों घुलते जा रहे हैं। बोलो, क्या हम ऐसे ही एक दिन घुल-घुल कर समाप्त हो जाएँगे ? इस अभाव को दूर कर जीवन में क्या कभी मुस्करा न सकेंगे। चुप क्यों हो ? मैं यह सब सहन नहीं कर सकती। इस एकाकीपन के घुटने भरे वातावरण ने मेरा जीना दूभर कर दिया है। आप भी दिन प्रति-दिन चिन्ता में घुलते जा रहे हैं। मैं इस घर को इस तरह समाप्त होते नहीं देख सकती। आपको मेरी बात माननी ही होगी।"

"सीमा !"

"मैं समझ नहीं पाती—आपको दूसरा विवाह करने में आखिर हिचक क्या है ? आप अपनी इच्छा से तो नहीं कर रहे ? मैं आपकी दूसरी पत्नी का हृदय से स्वागत करने को तैयार हूँ। संतान के लिए मनुष्य संसार में क्या-क्या नहीं करता ? सोचो तो, वंश समाप्त हो जाएगा···यह कैसी भयानक कल्पना है। मैं इस पाप की भागी नहीं बनना चाहती। क्या आप चाहेंगे कि केवल इस कारण कि आपकी पत्नी की कोख सूनी है, वंश समाप्त होने दिया जाय ?"

"बस करो, सीमा चुप हो जाओ। मैं और कुछ नहीं सुनना चाहता।"

"नहीं आज मैं चुप नहीं रहूँगी। मुझे कह लेने दीजिए सब कुछ कह लेने दीजिए। मैं जानती हूँ आप मुझे बहुत प्रेम करते हैं। एक विवाहिता नारी को इस बात का सचमुच ही गर्व होना चाहिए और मुझे भी अपने इस सौभाग्य पर पूरा-पूरा गर्व है। मेरे होते हुए आपको विवाह करना पड़े, यह सुनने में भी एक विचित्र- सी बात लगती है।

लेकिन आप सोचिये, इसके अतिरिक्त चारा ही क्या है ? मैं यह भी जानती हूँ कि ये आपके बस की बात नहीं है, लेकिन मैं जो आपको यह सब करने को विवश कर रही हूँ, वह क्या मैं सहज कर पा रही हूँ। कौन नारी चाहती है कि वह अपने और पति के बीच किसी दूसरी नारी को लाए ? लेकिन हमें यह करना होगा, क्योंकि हमें जीवन की उदासी को दूर करना है। जीवन के एक बड़े अभाव की, जिसने हमारी छोटी-सी दुनिया का सारा रस चूस लिया है, पूर्ति करनी होगी।"

"अच्छा, एक बात बताओ। मान लो मैं दूसरा विवाह कर लेता हूँ। उसके बाद भी हमारे जीवन के इस अभाव की पूर्ति न हुई तब ?"

सीमा एक बारगी सहम उठी "नहीं, ऐसा न कहो। ऐसा कभी न होगा। भगवान् इतना क्रूर कभी नहीं हो सकता। उसकी हम पर अवश्य कृपा-दृष्टि होगी। प्रयत्न मात्र करना हमारा कार्य है। बाकी सब हमें उस पर छोड़ देना चाहिए। हमारी यह साध एक न एक दिन अवश्य पूरी होगी।"

सारी रात अखिलेश एक पल को भी न सो सका। वह सीमा की इस विचित्र-सी ज़िद के विषय में ही सोचता रहा। कैसी अजीब बात है ? सीमा, जिसे वह प्राणों से अधिक प्यार करता है, जिससे सम्बन्ध तोड़ने के बाद उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं रह जाता उसके स्थान पर दूसरी स्त्री से प्रेम करना होगा और वह भी सीमा की आज्ञा से, उसकी उपस्थिति में ! यह सब इसलिए कि सीमा उसे एक बच्चा नहीं दे सकी। पर सीमा का इसमें क्या दोष है ? वह तो अपना सब कुछ उसे दे चुकी है। अब भला यह सब कैसे सम्भव हो सकेगा ? जिस बात की वह कल्पना भी नहीं कर सकता, क्या अब वही सब करना होगा ? क्या वह सीमा को भूल सकेगा ? क्या वह एक दूसरी स्त्री को अपनी पत्नी बनाकर उसके साथ थोड़ा भी घुलमिल सकेगा ? यह नहीं हो सकता...यह नहीं हो सकता। पर सीमा...

उसकी रोज़-रोज की यह ज़िद। क्या उसकी ज़िद को अब और अधिक टाला जा सकता है? वह अब अधिक कुछ न सुनेगी। फिर क्या होगा, क्या यह सब होकर ही रहेगा? आखिर सीमा क्यों स्वयं अपने आप अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार लेना चाहती है, क्यों? वह जो करने जा रही है उसे संसार की कोई भी स्त्री नहीं चाहेगी। सीमा तुम कितनी महान हो! महान भी तुम्हारे लिए तुच्छ है। महान से परे जो कुछ होता है, तुम वही हो। पर यह भी तो देखो। तुम्हारी इस ज़िद ने किसी को एक बड़ी उलझन में डाल दिया है...और वही सब सोचते-सोचते रात के तीसरे पहर जाकर कहीं अखिलेश सो सका!

आख़िर सीमा की ज़िद पूरी होकर रही। अखिलेश ने सोचा तो बहुत कुछ, पर सीमा के सन्मुख उसकी एक न चली। सीमा आख़िर सीमा थी। जो उसने सोचा, जो वह चाहती थी, उसने पूरा कर दिखाया। इसके लिए उसे जो त्याग करना पड़ा वह बस वही जानती है। दूसरा उसे क्या आँक सकेगा?

एक बार फिर बाजे बजे। अखिलेश ने चमेली के फूलों से सुवासित सेहरा बाँधा। ज़री की अचकन पहनी। घर में सब खुश थे। सीमा भी खुश थी, बहुत खुश!

पर अखिलेश की बुरी हालत थी। न चाहते हुए भी उसे सब कुछ करना पड़ रहा था। बेचारा अखिलेश...सीमा की आज्ञा और प्रेम में जकड़ा अखिलेश! सीमा सब कुछ जानती थी पर वह तो अब जानकर भी अनजान बन गई थी।

दूसरे दिन शाम को साड़ी में लिपटी गुड़िया-सी बहू जब दरवाजे पर आई तो सीमा घर में जिस हालत में खड़ी थी, वैसी ही दौड़ पड़ी। द्वार पूज कर उसने बहू के कन्धे पर अपना हाथ रखा तो वह काँप रहा था।

आँसू भरी आँखों से अखिलेश ने जब पहले उस काँपते हुए हाथ को देखा और बाद में उसी दृष्टि से सीमा को देखा तो सीमा का दिल

और भी भर आया। उसे लगा अब वह रो देगी। तभी उसने अपने आप को सम्हाल लिया। टपकने को आतुर छलकते आँसुओं को वह बड़ी कुशलता से पी गई।

रात को सब काम से निबट कर उसने बिन्दु का अपने हाथों से शृंगार किया। अखिलेश ऊपर के कमरे में था। सीमा बिन्दु को लिए बरामदे में आ खड़ी हुई।

"तुम्हारा नाम बिन्दु ही है न ?"

"जी"

"भला बताओ तो मैंने कैसे जाना ?"

"..............."

"तुम जानती हो मैं कौन हूँ ?"

"दीदी" !

"दीदी तो हूँ ही लेकिन फिर भी मैं हूँ कौन, यह तुम्हें जान लेना चाहिए। शायद मेरे बारे में तुमने कुछ सुना भी हो। मेरा नाम सीमा है और मैं इसी घर में रहती हूँ। यदि दो शब्दों में मेरा परिचय जानना चाहती हो तो समझ लो कि मैं अभागिनी हूँ और मेरा नारी-जीवन सार्थक नहीं हुआ।"

"ऐसा न कहो, दीदी ! आप भला ऐसा क्यों सोचती हैं।"

"जो सत्य है बिन्दु ! उसे कैसे झुठलाया जा सकता है ? तुम ही बताओ कोई नारी माँ न बने तो वह अभागिनी ही तो कहलाएगी। माँ बनने में ही तो नारी की सार्थकता है। पर मेरे इतने भाग्य कहाँ जो मैं अपना नारी-जीवन सार्थक कर पाती ? इसीलिए बिन्दु मैं तुझे लाई हूँ। आज से पाँच वर्ष पूर्व वे मुझे वरदान स्वरूप मिले थे। उनको पाकर मैं सब कुछ पा गई थी। मेरे जीवन की समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण हो गईं और आज अपने उन्हीं जीवन सर्वस्व को मैं तुझे सौंपती हूँ।"

विन्दु ने देखा सीमा की आँखें भर आई हैं। स्वयं उसका भी दिल उमड़ रहा है। कुछ देर वह संज्ञा शून्य-सी सीमा के साथ खड़ी रही और तबी बोली, "दीदी मुझसे यह सब न होगा। मैं तुम्हारे अधिकार को अपने जीवन का सर्वस्व नहीं बना सकती। दीदी, कुछ उपाय करो। नहीं तो, नहीं तो मैं .."

"आज की रात कैसी बात करती है री! छिः ऐसा नहीं कहते। आज तो तेरे सुहाग की रात है। अपने देवता के चरणों में सब कुछ अर्पित करने की बेला है। दिल छोटा न करो, बिन्दु! तुम्हें मालूम होना चाहिए कि यह सब एकमात्र मेरी इच्छा से ही तो हो रहा है। तू तो मेरी बहन है, छोटी बहन! ले आँसू पोंछ डाल और जा ऊपर।"

बिन्दु को सहारा देती-सी सीमा आगे बढ़ी और जीने के पास जाकर रुक गई। एक बार दृष्टि उठाकर उसने ऊपर के कमरे में से बाहर फैलते हुए बिजली के प्रकाश को देखा और बिन्दु से बड़े प्यार से बोली "जा ऊपर जा, बहुत रात हो गई।"

बिन्दु ने सीमा को कुछ ऐसी दृष्टि से देखा कि सीमा सिहर उठी। फिर धीरे-धीरे बिन्दु ऊपर चढ़ने लगी। वह जब आँखों से ओझल हो गई तो सीमा वहाँ से हट आई। घर में काफ़ी काम बिखरा पड़ा था। उसने अपने को काम में जुटा देना चाहा पर सफल न हो सकी। हारकर अपने कमरे में बिस्तर पर जा लेटी।

सुबह वह हड़बड़ा कर उठी। कमरे में अब भी बत्ती जल रही थी। बत्ती बुझाकर जैसे ही वह मुड़ी कि देखा बिन्दु उसके चरणों पर झुकी है।

"यह क्या करती है री?"

"चरणरज ले रही हूँ, दीदी!"

"सुबह-सुबह मुझ अभागन के पैर न छू। भला मुझसे तेरा क्या भला हो सकेगा। जो स्वयं अपना भला न कर सकी वह दूसरों का भला करने योग्य कहाँ?"

"नहीं दीदी !" कहकर बिन्दु ने चरण—रज मस्तक पर चढ़ा ली ।

एक के बाद एक दिन सरकने लगे । सीमा के लिए अब एक नई मुसीबत खड़ी हो गई । जिस परिस्थिति में सीमा किसी तरह दिन काट रही थी, यह बस वही जानती थी । वह अखिलेश को एक पल के लिए भुला न सकी थी । अखिलेश और अपने मध्य के पति-पत्नी के सम्बन्ध को हमेशा के लिए भूल जाना चाहती थी । अखिलेश के साथ उसने अपने जीवन के जो स्वर्णिम वर्ष व्यतीत किये थे, उनकी याद उसे रह-रह कर तड़पाती । अन्दर ही अन्दर कोई उसे झकझोरता रहता । वह जितना इन बातों को भूलने का प्रयत्न करती, कोई उसकी सुप्त कामनाओं को उतना ही झंझोड़ डालता ।

सीमा को इस समय किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता थी जो उसकी पीठ थपथपा सके ; उसे दिलासा दे सके । लेकिन यहाँ ऐसा था ही कौन जो ऐसा कर पाता । यहाँ तो बस केवल सीमा ही सीमा थी । जिसे सदा इसी तरह जलते रहना है । इधर बिन्दु और अखिलेश ने उसे अलग परेशान कर रखा था । दिन में तो उसने कभी इन दोनों को साथ नहीं देखा था । बिन्दु हर समय सीमा के साथ ही चिपटी रहती और अखिलेश ने तो जैसे समझ लिया था कि उसका इस घर से अब कोई मतलब ही नहीं रहा । सीमा यह सब देखती तो दिल मसोस कर रह जाती । अखिलेश जो हर समय पहले खिला-खिला सा रहता था, बात-बात में मीठी हँसी लुटाया करता था, अब दिन पर दिन मुरझाता जा रहा था । हर समय घर से बाहर रहना, घर में भी आना तो बिल्कुल उदास । न किसी से बोलना न चालना ।

सीमा का मन करता कि वह एक दिन अकेले में अखिलेश से पूछे तो कि यह सब क्या हो रहा है; पर वह ऐसा कर न पाती। न जाने बिन्दु अपने मन में क्या सोचे ? जब उसने एक बार अपने जीवन-धन के लिए बिन्दु को अधिकारिणी बना दिया है तो उसे उनके पास इस तरह जाने का अधिकार ही क्या रह जाता है ? हाँ, क्या अधिकार, कैसा अधिकार ?

वह बिन्दु को समझाती कि देख अब वे तेरे पति हैं। तुझे अधिक से अधिक उनके साथ रहना चाहिए पर वह जो इसके बाद उत्तर देती तो सीमा निरुत्तर हो जाती। इसी तरह दिन कट जाता। रात को फिर मुसीबत आती। कभी उसे बिन्दु को मनाना पड़ता और कभी अखिलेश को। दोनों के हाथ-पैर जोड़ती, न मानते तो फूट-फूट कर रो पड़ती। तब कहीं जाकर अनमने भाव से दोनों को ऊपर के कमरे में भेज पाती। इसके बाद वह नीचे पड़े-पड़े घंटों सिसकती रहती और फिर ऐसे ही सो जाती।

एक दिन सीमा ने बिन्दु को देखा तो देखती ही रह गई। उसका मन हुआ कि वह दौड़ कर बिन्दु के पास पहुँच पाए और उसे हृदय से लगा ले। खुशी में पागल होती सी सीमा ने पुकारा, "बिन्दु यहाँ तो आ जरा !"

बिन्दु समझ गई कि दीदी ने भेद पा लिया। लजाती-सी वह अपनी दीदी के साथ आ बैठी।

"यह सच तो है न, बिन्दु ?"

"क्या दीदी ?"

"वही, जो मैं देख रही हूँ, और तेरी यह झुकी-झुकी आखें कह रही हैं।"

बिन्दु और भी लजा गई। अनायास ही वह अपनी दीदी के चरणों पर झुक गई। सीमा ने दोनों हाथों से बिन्दु को ऊपर उठाया और बोली "आज मैं बहुत खुश हूँ। मेरी वर्षों की साध पूरी होने के दिन जैसे अब आए। देख बिन्दु, आज की रात मैं घर में घी के दिये जलाऊँगी। तू ने तो मुझे इतनी जल्दी निहाल कर दिया री! मैंने तुझे जो कुछ एक दिन दिया था, आज तूने उससे कहीं अधिक मुझे लौटा दिया है। पता है उन्हें इस बात का ?"

बिन्दु केवल सिर हिलाकर रह गई।

"तो बिन्दु आज मैं तुझसे एक भीख माँगती हूँ। आज की रात मुझे उनसे दो घड़ी बात कर लेने दो। आज मैं उन्हें यह शुभ समाचार सुनाऊँगी तो वह खुशी से फूले नहीं समाएँगे। आज मैं उन्हें एक बार फिर मुस्कराने पर विवश कर दूँगी। आज मैं उनका प्रसन्नता से चमचमाता चेहरा देखना चाहती हूँ। बस, इतनी भर अनुमति मुझे दे दो।"

"दीदी तुम यह क्या कह रही हो। भला मैं अनुमति देने वाली कौन? उनकी एकमात्र अधिकारिणी तो तुम ही हो। वह केवल तुम्हारे हैं दीदी, केवल तुम्हारे। यदि तुम उनसे मिलने जाओगी तो सच जानो, मुझे अपार संतोष होगा।"

और उस रात एक लम्बी अवधि के बाद सीमा ने जीने की सीढ़ियों पर कम्पित हृदय लिए अपने पैर बढ़ाये। ऊपर पहुँच कर उसने देखा दरवाजे की तरफ पीठ किए अखिलेश कुर्सी पर बैठा हुआ है। धीमे कदमों से वह एक दम कुर्सी के समीप जा पहुँची और बहुत ही मन्द स्वर में बोली "सुनो!"

"कौन?"

"मैं सीमा!"

अखिलेश आवेश में उठा और सीमा को दोनों कन्धों से पकड़ते हुए बोला, "तुम आज आई हो? आज तुम्हें मेरा ख्याल आया? छः-सात

महीनों के बाद आज तुम्हें मेरी याद आयी ? मुझे कभी स्वप्न में भी ख्याल न था कि तुम इतनी कठोर हो ! पाँच वर्ष जो हम जीवन के प्रत्येक क्षण साथ-साथ रहे, क्या सब भुला बैठी ?"

"मुझे भी तो कुछ कहने दो।"

"तुम्हारे पास अब है ही क्या कहने को ? तुमने यह भी ख्याल नहीं किया कि मैं एक-एक पल कैसे बिता रहा हूँ ? तुम भले ही इन छ:सात महीनों में मेरी छाया से भी भागती रही हो लेकिन विश्वास करो मैं तुम्हें एक क्षण के लिए भी विस्मृत न कर सका। कई बार चाहा कि तुम से मिलूँ, सारे बन्धनों को तोड़ कर तुम्हें एक बार फिर अपना लूँ, पर तुम तो कहीं दिखायी ही नहीं देती थीं। और तुमने अपनी यह हालत क्या बना रखी है ? कितनी दुबली हो गई हो ? यह सब क्या है...आखिर अब तुम और क्या चाहती हो ?"

"आज मैं आपको खुश देखना चाहती हूँ।"

"असम्भव, बिल्कुल असम्भव ! मेरे जीवन की खुशी तो कभी की मुझ से रूठ गई है। अब तो मुझे इसी तरह उदास रहना है और एक दिन इसी उदासी को साथ लिए घुट-घुट कर मर जाना है।"

"ऐसा न कहो, हम दोनों तो जीवित हैं अभी।"

"पर मेरे लिए क्या ? जिसे मैं चाहता हूँ उसे मैं पा नहीं सकता ; और जो मुझे इस समय प्राप्य है उसे मैं लाख प्रयत्न करने पर भी चाह नहीं सकता। तुम ही हो जिसने यह सब बखेड़ा खड़ा किया है। हमारे बीच ये दीवार तुमने ही खड़ी की है। लेकिन एक बात याद रखना, भले ही तुमने यह दीवार खड़ी कर दी हो। भले ही आज मैं तुमसे मिल पाने में असमर्थ बना दिया गया हूँ, लेकिन यह दीवार कच्ची है। एक दिन आयेगा जब मैं इस दीवार को अपने इन्हीं हाथों से तोड़ डालूँगा और तब संसार की कोई शक्ति मुझे तुम से मिलने से नहीं रोक पाएगी।"

"ये आप क्या कह रहे हैं ? आप क्यों भूल रहे हैं कि अब बिन्दु आपकी पत्नी है। ऐसा सोचने से भी पाप लगता है। आवेश में न आइये, जरा ठंडे दिल से विचार कीजिए। कहीं अब ऐसा भी हो सकता है ?"

"हो सकने की बात मैं नहीं जानता, लेकिन देख लेना एक दिन ऐसा अवश्य होकर रहेगा।"

सीमा ने अपने मन में उठते तूफ़ान को रोका और बोली, "सुनो, आज हमारी चिर साध पूरी हुई। अब यह वंश समाप्त नहीं होगा। भगवान की हम पर कृपा हुई।"

"सीमा ! यह मैं क्या सुन रहा हूँ ? तुम सच तो कह रही हो न सीमा ? और बिन्दु...कहाँ है वह ?"

सीमा प्रवाह में बहती जा रही थी, "हाँ, यह सच है, बिल्कुल सच। अब हमारे घर से उदासी सदा के लिए दूर हो जायेगी। अब हमारे आँगन में किसी बच्चे की किलकारी की प्यारी-प्यारी आवाज़ सुनाई देने वाली है। अपनी तोतली बोली से हम सब का मन लुभाने के लिए हमारे घर में एक नया प्राणी आने वाला है। बरसों से जो हम आस लगाये बैठे थे, वह अब कुछ महीनों में पूरी होने वाली है। मैं न कहती थी कि भगवान हमारी अवश्य सुनेगा। देख लो, तुम ही देख लो बिन्दु ने आज हमें सब कुछ दे दिया है। कैसी सौभाग्यशालिनी है हमारी बिन्दु।"

"लेकिन उसने मुझे तो कुछ नहीं बताया।"

"क्या उस बेचारी को सब बातें आपको बतानी होंगी ?"

तभी अखिलेश ने सीमा के और निकट पहुँचकर अपनी भुजाएँ फैला दीं। एक क्षण को सीमा ने भी कोई विरोध न किया और वह निढाल सी अखिलेश के शरीर से सट गई।

सीमा सटी खड़ी रही और अखिलेश काँपती सी वाणी में बोलता गया, "आज तुम्हें पाकर मैं सब कुछ भूलता जा रहा हूँ। तुम्हारे

सामीप्य में एक विचित्र सा सुख है जो केवल तुमसे ही मिल सकता है। सीमा कुछ करो, मैं तुमसे अब विलग होकर नहीं रह सकता। मुझे तुम्हारा सामीप्य सदा के लिए चाहिए।"

सीमा जैसे एक मीठी नींद से जगी। वह अपने को छुड़ाती हुई बोली, "जो हो रहा है, होने दीजिये। इसी में हम सब की भलाई तथा संतोष निहित है।"

अखिलेश कुछ कहे कि वह विद्युत गति से नीचे उतर आई।

बच्चे का नाम रखा गया मुकुल। उसके आते ही घर भर में खुशी की लहर दौड़ गई। बिन्दु खुश, सीमा बहुत खुश और अखिलेश के तो कहने ही क्या! अब मुकुल अखिलेश की गोद में! क्या सुबह, क्या शाम, काफी रात बीते तक मुकुल अखिलेश से खेलता और अखिलेश मुकुल से। सुबह दफ्तर जाने से पहले अखिलेश मुकुल को लेकर सीमा के पास आ बैठता। शाम को भी दफ्तर से लौटने के तुरन्त बाद मुकुल को आवाज़ लगाई जाती। आवाज़ को कोई चाहे सुने न सुने, अखिलेश मुकुल को ढूँढ ही लेता और फिर उसे लेकर सीमा के कमरे आ बैठता।

सीमा ने अनुभव किया कि अखिलेश मुकुल को तो हर समय लिए ही रहता है, साथ ही वह दिन प्रतिदिन उसके भी निकट आता जा रहा है। बिन्दु बेचारी बच्चे तथा बाप दोनों से दूर होती जा रही है। हालांकि बिन्दु के स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आया था और न कभी उसने स्वयं कुछ कहा ही था, लेकिन फिर भी सीमा ने सोचा कि यह सब ठीक नहीं हो रहा।

बिन्दु हर समय घर का काम करती रहती। मुकुल और अखिलेश को अपने कमरे में छोड़ कर सीमा जब बिन्दु के पास काम में हाथ

बटाने की दृष्टि से जाती तो बिन्दु कहती, "दीदी तुम क्यों चली आईं। काम तो सब हो गया।"

"कहाँ हो गया ? ला थोड़ा हाथ बटा दूँ।"

"न दीदी, तुम जाओ। मुकुल तम्हें अपने पास न देखेगा तो रो पड़ेगा, जाओ न !"

और सीमा को वापस आना पड़ता। रोज़ यही होता। दोनों बेला बिन्दु पहले चूल्हा सुलगा लेती तो फिर अकेली ही सारा काम करती। वह जब देखती कि वे सीमा और मुकुल के साथ बैठे बातें कर रहे हैं तो उसे आन्तरिक प्रसन्नता होती। उसका रोम-रोम पुलकित हो उठता। वह हृदय से चाहती कि उन्हें जितना हो सके सीमा के ही निकट रहना चाहिए। उसे यह सब देख कर अजीब सी तृप्ति होती।

उस दिन मुकुल अखिलेश की गोद में लेटे-लेटे सो गया तो अखिलेश ने उसे वहीं सुला दिया और स्वयं सीमा के पास पलंग पर आ बैठा। रसोई-घर से बर्तन मांजने की आवाज़ आ रही थी। उस आवाज को सुनते ही बिन्दु सीमा की दृष्टि के सम्मुख थिरक उठी। काफ़ी दिनों से उसके हृदय में अन्दर ही अन्दर एक बादल उमड़ रहा था, आज वह बरस ही पड़ा—

"आजकल आपको यह क्या होता जा रहा है ? आखिर आप फिर से बिन्दु की उपेक्षा क्यों करने लगे हैं ? मुझे यह सब बिल्कुल अच्छा नहीं लगता !"

"मैं विवश हूँ, सीमा ! मुकुल के होने के बाद मैं न जाने क्यों बिन्दु से बिल्कुल अलग हट गया हूँ। यह सब जाने कैसे अपने आप ही

हो गया। अब मैं मुकुल के अतिरिक्त किसी और का चाहता हूँ तो वह केवल तुम हो।"

"लेकिन क्यों, आखिर उसका अपराध क्या है? यही न कि उसने हमारे घर की उदासी को सदा के लिये दूर कर दिया है? उसने हमें वह सब कुछ दिया है जिसे पाने के लिए हम बरसों तरसते रहे थे, तड़फते रहे थे। क्या बिन्दु नारी नहीं है? उसका मन नहीं करता कि उसके पास कोई दो घड़ी बैठ कर बात करे? क्या वह यहाँ सिर्फ़ घर का काम काज करने के लिए ही रह रही है? इसके अतिरिक्त क्या उसे पति का प्यार मिलना ही नहीं चाहिये? आप उसके पति हैं, वह आप की पत्नी है। आप दो घड़ी बैठकर उसके साथ हँस बोल भी नहीं सकते? आखिर वह निष्प्राण पत्थर तो नहीं। उसके भी हृदय है, अपनी मनोकामनाएँ हैं! क्या इन सब का कोई महत्व नहीं, मूल्य नहीं?"

सीमा को इस तरह जोर-जोर से बोलते देखकर बिन्दु हाथ धोकर दौड़ी आई और एक दम सीमा के पैरों से लिपट गई "दीदी इन्हें कुछ न कहो। मैं बहुत सुखी हूँ। मेरे पास सब कुछ तो है। दीदी, अब चुप हो जाओ।"

अखिलेश पलंग से उठ कर खड़ा हो गया। उसका सम्पूर्ण शरीर काँप रहा था। उसने एक बार दोनों की ओर देखा और बोला "बिन्दु, अच्छा हुआ तुम इस समय यहाँ आ गईं। आज जो मैं कहना चाहता हूँ ठीक होगा यदि तुम भी उसे सुन लो, समझ लो। मैंने कभी कल्पना भी न की थी कि सीमा के अतिरिक्त कोई और नारी भी मेरे जीवन में आएगी। मैं आज तुम्हें स्पष्ट बता देना चाहता हूँ कि मैंने तुम्हें कभी प्यार नहीं किया और ये भी अच्छी तरह समझ लो कि भविष्य में भी कभी ऐसा हो सकेगा, यह असम्भव ही है। मैं केवल सीमा को चाहता हूँ। जीवन में पहली बार मैंने उसे ही चाहा था और मृत्यु-पर्यन्त उसे ही चाहता रहूँगा। यह अलग बात है कि वह मुझ से दूर रहे और जिसे मैं कभी चाह नहीं सकता वह मेरे पास रहे।"

"मैं तो बहुत सुखी हूँ। मुझे सब कुछ तो प्राप्य है, फिर व्यर्थ का झगड़ा क्यों ?" बिन्दु ने सुबकते हुए किसी तरह कहा।

"चुप हो जाओ बिन्दु ! तुम नहीं जानती तुम क्या कह रही हो ! जब तुम ब्याह कर इस घर में लायी गई हो तो तुम्हें तुम्हारा अधिकार मिलना ही चाहिए। नारी को स्वयं अपने अधिकार के लिए लड़ना चाहिए। तुम अभी नादान हो इसलिए मुझे तुम्हारे अधिकार के लिए लड़ना पड़ रहा है और विश्वास करो यह अधिकार तुम्हें मिलकर रहेगा।"

उस रात घर के चारों प्राणी अलग अलग सोए। एक बज चुका था। यदि अब तक कोई न सो सका था तो सीमा। उस के कान केवल एक ही बात सुन रहे थे—'बिन्दु को उसका अधिकार मिलना ही चाहिए।' काफ़ी रात जागते-जागते निकल गई और तब वह अपने बिस्तर से उठी। ऊपर पहुँचकर उसने अखिलेश के चरणों के पास बैठ कर, प्रणाम किया। नीचे आकर उसने सोते हुए मुकुल के सर पर हाथ फेरा और आँख से ढुलकने को आतुर आँसू को वहीं हथेली से मसल डाला।

उसने बिन्दु को देखा जो सब ओर से बेखबर गहरी नींद सोयी पड़ी थी। उसके सर पर हाथ फेरते हुए उसका दिल भर आया।

कपड़ों की गठरी बगल में दबाये धीरे से दरवाज़ा खोल कर सीमा बाहर निकल पड़ी। अब वह पास के स्टेशन की ओर बढ़ी चली जा रही थी।

उसके सामने एक सपना नाच उठा—

अभी थोड़ी देर में गाड़ी आएगी जिसमें बैठकर वह किसी दूर दिशा में, यहाँ से हजारों मील दूर पहुँचेगी। उसकी कल्पना का एक गाँव होगा...सीधे सादे लोग होंगे जिनकी समस्याओं को सुलझाते हुए वह अपने आपको उलझा लेगी और दिन व्यतीत होते जायेंगे।

और सीमा चलती रही... ●●

# पासा पलट गया !

शाम के सवा पाँच बजे जब हम रोज़ की तरह घर लौट रहे थे तो हज़ार साइकिलें हमारे पीछे थीं और ख्याल है कि आगे भी इससे क्या कम होंगी । हम साइकिल पर सवार थे लेकिन मज़े की बात यह कि फिर भी हमारे पैर बराबर चल रहे थे ।

जब लोग साइकिल पर सवार होते हैं तो सोचते हैं कि वे साइकिल पर बढ़े चले जा रहे हैं, साइकिल उन्हें हवा की तरह खींचे लिए जा रही है पर वे भूल जाते हैं कि असल में चल रहे होते हैं उनके पैर ही ! हाँ, तो इसी तरह हमारे पैर भी पैडलों पर घूम रहे थे पर आज हम अपने घर के विषय में बहुत कुछ सोच रहे थे.. दहलीज में घुसते ही आज हमारी साइकिल कौन थामेगा ?···कमरे में घुसकर जब हम लाल मुलायम गद्दी वाली कुर्सी पर बैठ कर अपनी थकान को बढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शित करेंगे तब कौन हमारे बायें खड़ा होकर छः नए पैसे वाले पंखे से ठंडी-ठंडी हवा करेगा ?...जब हम नीचे झुककर सोल घिसे जूतों के फीते खोलने का अभिनय करेंगे तो कौन एकदम नीचे फर्श

पर पसर कर हमारे जूते, हमारे मौजे उतार कर, हाथ की मुलायम पनीर सी हथेलियों से पैरों को दबाना आरम्भ करेगा ?...हम पानी माँगेंगे तो उसके स्थान पर हमारे छिपे मन की छिपी इच्छा समझकर, अच्छी तरह लपेट कर रखे हुए तौलिए में से दो पैसे का बर्फ निकाल कर, एक आने के एक वाले पीले, गदराए नीबू से उसका रस निचोड़ कर, कौन पिलाएगा हमें शिकंजी...?

आज तो यह कुछ भी न हो सकेगा। आज तो कमरे के दरवाजे पर ताला लटका होगा और उस ताले को खोलने के लिए पड़ौस की उस सुनैनी से भेंट करनी होगी जिसे कम से कम हम सुबह शाम देखना बिल्कुल पसन्द नहीं करते। क्यों पसन्द नहीं करते ? इसका भी एक कारण है। कई बार ऐसा हुआ है कि सुबह उठकर जब-जब हमने उन्हें देखा है तब-तब दिन कटना मुश्किल हुआ है और जब-जब शाम के समय उन्हें देखा है तब-तब ऐसा लगा है कि अभी से रात घिर आई है और चारों ओर घना अंधियारा घिर उठा है।

बात असल में यह थी कि आज दोपहर पड़ौस की अपनी एक सहेली विमला के घर से हमारी श्रीमती जी ने फोन किया था कि अभी-अभी घंटा भर हुए उनके चहेते भाई आ धमके हैं और उन्हें मजबूरन हमारे दफ्तर से लौटने से पहले ही अपने मैके की ओर पलायन करना होगा। उस समय हमारे मन में आया था कि अपने शब्दों को गुस्से की भूसी में लपेट कर ऐसी घुड़की दूँ कि उनके भय्या को अकेले ही वापस लौटना पड़े पर तभी हमें याद हो आया कि हमारी 'उनको' मैके से आये पूरे छः महीने गुज़र चुके हैं। अतः हमने अपने गुस्से की भूसी की खुली पोटली फिर बाँधली और अपने शब्दों को तीन तार की चाशनी में लबालब डुबोकर उन्हें जाने की सहर्ष अनुमति दे दी।

गिनती के पूरे उन्नीस चौराहे और सड़क की पौने सात मील की काली-पथरीली-कठोरता को साइकिल के दोनों पहियों पर लादे अपने एक मन बीस सेर के डाल्डा ब्रांड वज़न से दबाने का असफल

प्रयत्न करते हुए जब हम अपने घर वाली गली में मुड़े तो रोज़ दुम हिलाकर स्वागत करने वाले हमारी गली और विशेषतः हमारे घर के टुकड़ों पर पलने वाले कुत्ते ने भौंक कर कुछ ऐसा स्वागत किया कि हमें घर के दरवाज़े से बीस कदम पहले ही साइकिल से उतर जाना पड़ा।

मरे-मरे से एक-एक पग रखते हुए जब हम अपनी दहलीज में घुसे तो आँखों को दो तीन बार गुपचुप करने और मल-मल कर खालने की ज़रूरत अचानक ही महसूस हुई और खुदा का लाख-लाख शुक्र कि इधर हमें यह अजीब आवश्यकता महसूस हुई और उधर किसी ने साइ-किल को अपने हाथों थाम लिया। ज़रूरत और मनुष्यता के नाते जब हमने उस अनजान मित्र को धन्यवाद देकर अपनी आँखें तीन-चार बार बन्द कीं, उन्हें अपनी हथेलियों से खूब जोर-ज़ोर से रगड़ा और फिर अपनी उन आँखों को पूरी गोलाई के आकार में खोलकर देखा तो एक जानी-पहचानी सी शक्ल हमें दिखाई दी। हमें कुछ ऐसा दिखाई दिया कि जैसे हमारी श्रीमती जी मैके नहीं गईं बल्कि रोज़ की तरह अधरों पर अनबुझी मुस्कान लिए हमारी साइकिल का भार सँभाले खड़ी हैं। उसे अपना एक वहम समझ कर जब हमने अपने कमरे के दरवाज़े पर नज़र दौड़ाई तो उसे भी सपाट खुले पाया।

खुले दरवाज़े को देखते ही हमारी नज़रें पूरी तरह खुल गईं और हमें विश्वास जमाना ही पड़ा कि श्रीमती जी अभी घर में ही विद्यमान हैं, और आज भी रोज़ की तरह हमें ठंडी हवा मिलेगी, पानी की जगह मीठी शिकंजी मिलेगी और जूतों के फ़ीतों को भी केवल मात्र छूना ही पड़ेगा...

पंखे की हवा मिली। शिकंजी की मीठी ठंड हमारे शरीर की समस्त शिराओं में घूम-घूम कर जम गई। सुबह जो जूते पैरों में जबरदस्ती डालकर फीतों से बाँध दिये गये थे, वे पल भर में ही पैरों का साथ और मोह छोड़ कमरे के एक कोने में जा विराजे :

एक सवाल हमारी ओर से हुआ :

"क्यों जी मैके नहीं गई ?"

"आपके पीछे भला कैसे जा सकती थी ?"

सुन कर हमें लगा कि यह हमारे सवाल का उत्तर कदापि नहीं हो सकता। लेकिन तभी ख्याल आया कि हमें भी तो आज तक कभी ऐसा सवाल श्रीमती जी से पूछने का अवसर नहीं पड़ा था तो हो सकता है यही हमारे सवाल का उत्तर हो अत: हमने फिर कहा :

"लेकिन हमने तो फोन पर कह दिया था कि तुम जा सकती हो, फिर क्यों नहीं गई ?"

"कह तो दिया—ऐसे तुम्हारे पीछे कैसे जा सकती थी ?"

अब तो हमें शत-प्रतिशत विश्वास हो गया कि कोई न कोई बात है अवश्य जिसे हमसे छिपाया जा रहा है। नहीं तो हमारी श्रीमती जी ...और मैके सिधारने का ऐसा सुलभ अवसर छोड़ दें !

तभी फिर सुनने को मिला, देखो आज मैं नहीं गई तो बड़ी खुशी हो रही है। ऐसी खुशी का आज मुझे पहली बार ही अनुभव हुआ है और आज तो मैं यह सोच रही हूँ कि इस सुलभ प्रसन्नता को पाने के न जाने कितने अवसर मैंने व्यर्थ ही अपनी नासमझी और ज़िद के कारण खो दिये। इधर आप भी खुश और मेरे तो कहने ही क्या !"

यह सुनना था कि हमारे अविश्वास की अभी-अभी निर्मित दीवार देखते ही देखते ज़मीन से आ मिली। हमें लगा कि हम से कुछ भी नहीं छिपाया जा रहा है और साथ ही हमने अपने अनजान अनदेखे सितारों को सराहा जिनके कारण हमें श्रीमती जी के श्रीमुख से ऐसे सुवचन सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

वह दिन गुज़रा। दूसरा दिन भी गुज़र गया और फिर आया उस सप्ताह का रविवार !

हम ग्यारह बजे खाना खा पीकर लम्बी तान कर सो गए। सोते-सोते जब बीच में आँख खुली तो बड़ी अजीब-अजीब बातें कानों से टकरायीं। हम भी सोने का पूरा-पूरा अभिनय करते हुए कान लगाकर बातें सुनने लगे। श्रीमती जी अपनी सहेली विमला के साथ दो-दो चोंचें कर रही थी :

"अरी विमला ,इस बार तो मैं मैके जानबूझ कर नहीं गयी और उनकी नजरों में भली बन गई सो अलग।"

"ओह, गल की सी ?" विमला बोली।

'हुआ यह कि इसी पिछले बुद्ध को भय्या लिवाने आये थे। घर पर मेरी दो-दो भाभियों के जापे का काम था। बस भय्या के सामने तो मैं झट चलने को तैयार हो गयी पर असल में मैं उनके साथ जाना नहीं चाहती थी।"

"आहो आहो, फेर की होया ?" विमला ने में पूछा।

"तुझे याद है मैं बुद्ध को तेरे घर फ़ोन करने आई थी।"

"चंगी तरह याद है, चंगी तरह याद है। होर तो होर मैंनू एभी याद है कि तुसी उस वेले नाइलोन दी साड़ी पायी सी।"

"हाँ, ठीक वही। सोच रही थी कि वे मुझे फ़ोन पर मैके जाने की आज्ञा नहीं देंगे तो मेरा काम बन जाएगा। पर जब मैंने देखा कि उन्होंने तो जाने की सहर्ष अनुमति दे दी है तो मुझे भय्या को टरखाना पड़ा और वह भी खुद भली बनकर और इनको दोषी ठहरा कर।"

"चंगा कीता चंगा कीता ! ऐ मर्द एवेंइ काबू आन्दे ने। तू बिल्कुल ठीक कीता।"

"और मज़ा तो यह कि शाम को वह आए तो मैंने इन्हें वह पट्टी पढ़ायी कि बस लट्टू हो गए।"

अब इससे ज्यादा सुनना हम गवारा नहीं कर सकते थे। इसलिए पहले तो हमने एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, न जाने कितनी बार छींका और तब तक छींकते ही गए जब तक कि विमला वहाँ से उठकर रफूचक्कर न हो गई। फिर एक गिलास पानी की फरमायश की, जो फ़ौरन पूरी हुई। पानी पीकर पहले हमनें घड़ी की ओर देखा और फिर जो खाली गिलास श्रीमती जी को पकड़ाया तो सुनने को मिला "तबियत तो ठीक है न ?"

हमारा सीधा-सादा उत्तर था, "हाँ, तबियत तो ठीक ही है, चलो उठो अब अपने मैके चलने की तैयारी करो।"

# भूखा-अंकुर

बड़ी मुश्किल से किसी तरह रन्नो पाँच आने जुटा सकी थी। इस पूँजी को बचाने के लिए उसे दो दिन कठिन परिश्रम करना पड़ा था। ये उसे भीख में मिले थे, दया, भूख और भगवान के नाम पर।

आजकल भीख माँगना भी तो कोई सरल काम नहीं। इसके लिए भी कठिन परिश्रम करना पड़ता है। पूरे दिन जब सूरज तपता रहता है और चारों ओर एक असहनीय आग सी बरसती होती है, एक-एक पैसे को पाने की आशा में इधर-उधर घूमना और वह भी भूखे पेट, हर किसी के वश की बात नहीं। और खाली घूमना नहीं, बोलना भी पड़ता है, चीखना चिल्लाना और रोना पड़ता है, उस समय तक जब तक कि कोई दया करके एक पैसा न दे दे। पैसा मिलते ही क्षण मात्र को यह चीखने चिल्लाने का क्रम अपने आप ही रुक जाता है और दूसरे ही क्षण फिर आरम्भ हो जाता है, एक मशीन की तरह।

दो दिन में रन्नो को भीख माँगने पर दस आने मिल

सके थे जिन में से पाँच आने उसके और उसकी कोख से जन्मे लल्लू का पेट भरने के प्रयत्न में समाप्त हो चुके थे। अब रन्नो के पास थे पाँच आने, केवल पाँच आने।

दिन छिप रहा था, सूरज डूब चुका था। केवल रात काटनी शेष थी। रन्नो को भूख लग रही थी। उसका मन हुआ कि अभी लाला की दूकान पर जाकर चार आने का गुड़-चबेना ले आए, पर उसने अपने मन को मार लिया। उसे याद आया, मटके में कल के बचे हुए कुछ चने और एक छोटी सी गुड़ की डली पड़ी होगी। वह उठी और उन मुट्ठी भर चनों को निकाल कर अपने लल्लू के आगे रख दिया। लल्लू ने खाना आरम्भ किया तो वह अपना भूखा पेट दोनों हाथों से दबाकर लेट गई।

आज यह कुछ नया नहीं हो रहा था। पहले भी अनेक बार ऐसा हो चुका था और रन्नो, सच पूछो तो, अब इसके लिए अभ्यस्त हो गई थी, पूर्ण अनुभवी हो गई थी।

रात और भी गहरी होती जा रही थी। झोंपड़ी के आगे खुले आसमान और नंगी धरती पर एक फटी सी मटमैली दरी बिछाए रन्नो अपने लल्लू के साथ सोने का प्रयत्न कर रही थी। भूखा पेट ? लाख कोशिश करने पर भी आँख लगती न थी। आसमान में कहीं चाँद न था, बस गहन अन्धकार और धीमे-धीमे झिलमिलाते तारे। लल्लू सो रहा था, एक ऐसी नींद जिसमें न कोई फ़िक्र थी न कोई घुटन।

रन्नो ने सोचा...कल जब सुबह होगी तो वह लल्लू को रोज़ की तरह अपने साथ नहीं ले जाएगी। कल वह अकेली ही माँगने जायेगी। उसे याद आया, लाला की दुकान से आगे ज़रा घूमकर, एक नमकीन सेल बनाने वाले की दूकान है। वह पांच पैसे के छटांक भर सेल तोलकर देता है। लाला वही सेल सबको दो आने के छटांक भर बेचता है। छटांक भर में तीन पैसे का फायदा, आध पाव

में छः पैसों की बचत......और उसके पास पाँच आने पैसे हैं। क्या लल्लू पावभर सेल अकेला शाम तक नहीं बेच सकेगा। कोई मुश्किल काम तो नहीं है और फिर लल्लू बच्चा भी तो नहीं है, तेरह साल का होने को आया। हाँ, यही ठीक रहेगा। झोंपड़ी में एक छोटी सी तराजू और छटॅकी पड़ी ही है। सुबह होगी। इधर मैं मांगने निकलूंगी और साथ ही एक छबड़ी में पाव भर सेल और तराजू देकर इसे एक जगह कहीं गली के नुक्कड़ पर बैठा जाऊँगी। पाव भर सेल होते ही कितने हैं, शाम को लौटती बेला तक वह ज़रूर-ज़रूर बिक जाएंगे। और रन्नो सो गई। अपने दोनों घुटनों को उसने अब भी पेट से चिपकाया हुआ था।

अच्छी तरह समझा-बुझा कर रन्नो ने लल्लू को एक गली के नुक्कड़ पर बैठा दिया और स्वयं आगे बढ़ गई। उसे अभी बहुत दूर जाना था, शाम तक बस घूमना ही घूमना...। दोनों के पेट भूखे थे, शाम तक भूखे पेट ही रहना था। रन्नो तो इसकी आदी हो गई थी पर लल्लू के लिए आज यह एक नया अनुभव था। रोज़ तो वह माँ के साथ-साथ घूमा करता था। दोपहर को एक आने के चने और एक आध रूखी रोटी खा लिया करता था पर आज ......शाम तक वह इस तरह भूखे पेट कैसे रह सकेगा ?

रन्नो लल्लू को जहाँ बैठा गई थी, वहीं बैठा था। लोग आ जा रहे थे। दोपहर हो गई थी। सेल का छोटा सा ढेर बिल्कुल भी कम न हुआ था। उसे बेहद भूख लग रही थी, उसका रोम रोम भूखा था। रात भी वह कुछ ज्यादा न खा सका था और अब सुबह से दोपहर ढलने को आई। पेट ऊपर से नीचे तक गहरी गुफ़ा के समान खाली था। भूख पल-पल असहनीय होती जा रही थी और लल्लू...

वह बच्चा जो केवल इतना ही जानता था कि जब भूख लगती है तो खाना मिलना ही चाहिए, सोच नहीं पा रहा था कि क्या करे ? नमकीन सेल का छोटा सा ढेर उसकी भूखी, पल-पल निस्तेज होती दृष्टि के सामने था, बिल्कुल पास, उसकी अपनी चीज़ की तरह।

शाम हुई। दिन छिपने से ज़रा पहिले रन्नो उधर से गुजरी तो देखा, खाली छबड़ी और तराज़ू लिए लल्लू उसकी ही राह देख रहा था। खाली छबड़ी और लल्लू को देखते ही रन्नो खुश हो उठी। जो योजना उसने रात सोची थी उसमें उसे सफलता जो मिली थी। फिर भला वह खुश क्यों न होती ? खाली छबड़ी जैसे रन्नो को उसके निश्चय की जीत का सन्देश दे रही थी। रन्नो खुशी में पागल होती सी आगे बढ़ी और हाथों में ऊपर उछाल कर अपने लल्लू को चूम लिया। लल्लू पहले चुप था। अब खुश हो गया।

"ला पैसे तो दे लल्लू !"

रन्नो की आगे फैली हथेली फैली की फैली ही रह गई !

"पैसे दे न लल्लू !"

"माँ, कुछ भी नहीं बिका !"

"कुछ भी नहीं बिका, तो फिर सेल कहाँ गए ?"

लल्लू चुप।

"बता न सेल कहाँ गए ? कोई पुलिस वाला तो नहीं ले गया बटोर के ?"

"नहीं, माँ ! नहीं।"

"तो फिर ?"

"माँ मुझे पीटो, खूब ज़ोर से पीटो। मैं हूँ ही पिटने लायक !" कहकर लल्लू सुबक उठा।

"आख़िर बता तो सही बात क्या हुई ?"

"माँ, दोपहर ढ़लने तक भी जब कोई एक पैसे के भी सेल लेने मेरे पास न आया तो मुझ से न रहा गया। तुम तो जानती हो माँ, सुबह से मैं भूखा था। रोज तो तुम्हारे साथ रहकर दोपहर में कुछ

न कुछ खा ही लिया करता था लेकिन आज तो तुम भी मुझे अकेला छोड़ गई थीं। मेरी भूख पल-पल बढ़ती जा रही थी मां। मैं बिल्कुल मजबूर हो गया था। मेरा भूखा पेट कुल-मुला रहा था, पर आंखें फिर भी किसी खरीदार का इन्तजार कर रहीं थीं।"

रन्नो चीख सी पड़ी "क्या बकवास कर रहा है? साफ़-साफ़ क्यों नहीं बताता कि क्या हुआ। जल्दी बता नहीं तो मैं बहुत पीटूँगी, यहीं मारूँगी।"

"तभी एक खरीदार आया और उसने सब सेल से लिए।"

"और पैसे?"

"वह तो कोई बेचारा भूखा था, मां! उसने मुझे रोते रोते बताया कि वह परसों सुबह से भूखा है। मां, तुम विश्वास करो। वह सचमुच ही दो दिन से भूखा रहा होगा। उसने मेरे सामने बैठकर जरा-सी देर में ही सब सेल खा लिए थे!"

क्षण भर को उसे लगा, जैसे लल्लू झूठ बोल रहा है, लेकिन वह अधिक देर ऐसा न सोच सकी। वह और किसी भी बात पर विश्वास कर सकती थी, लेकिन इस बात पर नहीं कि लल्लू झूठ बोलेगा। लल्लू कभी झूठ नहीं बोलता था उसके सामने!

रन्नो का चेहरा क्रोध और झुँझलाहट से तमतमा उठा। उसका मन हुआ—लल्लू को इतना मारे कि वह अधमरा हो जाए। अभागा कहीं का। यहाँ दो जून पेट भरना मुश्किल है और इधर यह कम्बख़त...तभी अचानक उसके चेहरे के भाव बदले और उसकी आँखें गीली हो उठीं।

उसे लगा जैसे आज कुछ नया हुआ है। उसे पहली बार पता लगा कि उस की कोख से जन्मी सन्तान कितनी सहृदय है! वह गरीब है, जन्म-जन्मान्तर का भूखा है लेकिन फिर भी महान...लेकिन यह महानता कब तक चलेगी...कैसे पनपेगी...जीने के लिए रोटी जरूरी है और वह केवल इतना ही कमा पाती है जिस से जीने का सहारा होसके। ...क्यों कर यह महानता पनपेगी! ...शायद नहीं.. शायद हाँ। ●●